हरि ओंɜम् तत्सत्

सहज-मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष १ अंक २

श्री रामचन्द्र मिशन [शाहजहाँपुर], यू० पी०
SHRI RAMCHANDRA MISSION
SHAHJAHANPUR (U. P.)

सम्पादक मंडल

काशीराम अग्रवाला
किशनलाल अग्रवाला
गजानन्द अग्रवाला

वार्षिक मूल्य तीन रुपये] [एक अंक का

प्रकाशक—श्री रामचन्द्र मिशन ✪ ब्रांच—तिनसुकिया (आसाम)

'सहज मार्ग' के नियम

(१) आध्यात्मिकता एवं गुप्त अनुभवी रहस्यों को सरल भाषा द्वारा जनता तक पहुँचाना 'सहज-मार्ग' का मुख्योद्देश्य होगा।

(२) 'सहज-मार्ग' में आत्मिक, सामाजिक तथा शारीरिक उन्नति के लेख ही छापे जावेंगे। राजनैतिक तथा अश्लील लेख भेजने का कोई सज्जन कष्ट न करें।

(३) पत्र-व्यवहार के लिए 'सहज-मार्ग' कार्यालय, तिनसुकिया (आसाम) याद रखें।

(४) लेखों के घटाने-बढ़ाने और छापने का अधिकार सम्पादक को रहेगा। परन्तु लेखों में प्रकाशित मत के लिए सम्पादक उत्तरदाता न होगा। लेख सरल भाषा में कागज के एक तरफ ही साफ-साफ लिखे होंगे।

(५) ग्राहकों को पता साफ साफ लिखना चाहिए, और साथ ही ग्राहक नम्बर भी लिख देना चाहिए। उत्तर के लिए निकट भेजना उचित है।

(६) 'सहज-मार्ग' का वार्षिक मूल्य ३) रु० है। एक वर्ष से कम ग्राहक नहीं बनाये जावेंगे।

विषय-सूची

क्रम-संख्या	विषय	लेखक	पृष्ठ
(१)	प्रार्थना	—	३
(२)	सम्पादकीय	—	४
(३)	एक अभ्यासी के पत्र को नकल		५
(४)	तिनसुकिया के पत्र का पत्रोत्तर— श्री रामचन्द्र जी महाराज		६
(५)	प्रणाम	—	७
(६)	भजन	—	७
(७)	बन्दना—श्री भुवनेशचन्द्र रस्तोगी		८
(८)	जीवन से क्या डरना-श्री के. एल. केजरीवाल		८
(९)	दिव्य दृष्टि—श्री रामचन्द्र जी महाराज		९
(१०)	प्रियतम की खोज—कुमारी केशर		१०
(११)	सदाचार—श्री रामदास चतुर्वेदी		१२
(१२)	आत्म-समर्पण—कुमारी कस्तूरी जी		२०
(१३)	सहज मार्ग के अंतर्गत ब्रह्म-विद्या में प्रेम और भक्ति—कुमारी 'संध्या'		२२
(१४)	एक सन्त की वाणी	—	२५
(१५)	मानव तेरी मानवता—श्री काशीराम अग्रवाल		२७
(१६)	सहज-मार्ग के दस नियम—		३०
(17)	Presidential address— Shri Ram Chandra Mission		31
(18)	Thoughts on Spirituality— Bangovinda Parampanthi		33
(19)	What is it : That We Are After, Aftcr All		37

* ओ३म् तत्सत् *

सहज-मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत; ।

अर्थ—उठो ! जागो ! जब तक ध्येय प्राप्त न हो जाय, मत रुको !!

वर्ष १ संख्या २	फरवरी, १९५७ FEBRUARY, 1957	वार्षिक मूल्य तीन रुपया

प्रार्थना

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है।
हमारी इच्छायें उन्नति में बाधक हैं।
तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

(श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर की दैनिक प्रार्थना)

सम्पादकीय विचार

देश में आज जिस प्रकार हाहाकार मचा हुआ है, और अकर्मण्यता फैली हुई है एवं लोग अध्यात्मिकता से विमुख हो रहे हैं, उसका प्रधान कारण सदाचार एवं अपने कर्त्तव्य से विमुख होना तथा समता का अभाव होना ही है। इस अज्ञानान्धकार को दूर कर मानव जीवन को अधिकाधिक उन्नत करने का उद्देश्य लेकर मानव-जाति के कल्याणार्थ सहज-मार्ग का प्रकाशन किया गया है, इसमें बड़े २ अनुभवी विद्वानों के लेख हैं। प्रथम अंक की भाँति इस द्वितीय अंक को भी अपनाकर हमारा साहस बढ़ावेंगे ऐसी पाठकगणों से प्रार्थना है। यह द्वितीय अंक अनेकों प्रकार की कठिनाइयों का सामना एवं व्यवसायिक कार्यों से अवकाश कम मिलने के कारण वश छापने में विलम्ब हुआ। इस विलम्ब के लिए मैं क्षमा चाहता हूँ, और इसमें जो त्रुटियाँ हों हमें सूचित करते रहें ताकि उनका अगले अंक में बहिष्कार किया जाय।

—सम्पादक

श्री रामचन्द्र मिशन शाहजहाँपुर का वार्षिक महोत्सव बसन्तपंचमी ५ फरवरी १९५७ मंगलवार से आरम्भ है, हरएक भाई से प्रार्थना है कि इस शुभ अवसर पर पधार कर आध्यात्मिक लाभ उठावें।

—सम्पादक

एक अभ्यासी के पत्र की नकल

मेरे परम पूज्य श्रद्धेय श्री बाबूजी महाराज,

सादर चरण स्पर्श! मेरे 'प्रभुवर' जो कुछ आत्मिक स्थिति है लिख रहा हूँ। अब तो यह हाल है कि जब कुछ 'मालिक' के भजन आदि गाता हूँ तो प्रेम-अश्रु नेत्रों में भर आते हैं मगर अब तो यह भी नहीं पता कि मैं क्यों सुबक २ कर रोया करता हूँ, अब तो यह हाल है कि न रोना ही आता है और न हँसी ही आती है। दीनबन्धो, यह भी न समझ सका कि पूजा कैसे और किसकी क्यों पूजा करूँ। अब तो अपने ध्येय का भी पता नहीं, पूजा में बैठने से भी मन नहीं लगता, और जब पूजा में बैठता हूं तो यही ख्याल आता है कि हाय, मैं प्रियतम से प्रेम नहीं कर पा रहा हूँ। प्रभुवर! अब तो सब कुछ खाली है, रोम-रोम में मेरे प्रभु का नाम अंकित हो चुका। जो भी भारीपन दोख रहा था वह भी बेचैनो की अग्नि में पिघल कर साफ हो चुकी। मेरे प्रभुवर! कभी ख्याल आता है 'उसे' खोजूँ। मगर यह भी पता नहीं खोजूँ तो कहाँ और किसे खोजूँ जब कि जिसकी खोज करनी है, वह स्वयं ही तो छुपम-छुपा बोल रहा है खोजकर? जब प्रियतम तो मौजूद ही है फिर भला खोज किसकी? यह तो आपकी आँखमिचौनी का अजब खेल है। सहज में क्यों प्रगट होने लगे, प्रेमी को तो आप छुप-छुप कर देखा ही करते हैं और रुला कर छोड़ते हैं।

मेरे प्रभुवर! अब तो दुनिया की दुख-सुख, जीवन-मृत्यु एवं रोने हँसने की किलकारियाँ भो कानों तक नहीं सुनाई पड़ती। अब तो संसार स्वप्न सा लगता है या मैं स्वयं ही स्वप्न बना हुआ हूँ। न जाने दिन भर सोया हुआ सा रहता हूँ एवं सब कुछ करते हुए भी निद्रा में सोया सा रहता हूँ मगर चेतनता रहती है। सब कुछ शून्य, विहंग, उजाड़, कोरा लगता है। संसार में रहता हुआ सब कुछ करता हुआ घूमता-फिरता हुआ भी ऐसा लगता है मानो मैंने कुछ नहीं किया और भूल सा जाता हूँ। किसी से बातें करने पर भी भूल जाता हूँ कि मैंने किसी से बातें की ही नहीं। मेरे प्रभुवर! अब तो संसार से घृणा है नहीं, प्रेम होता नहीं, वैसे ती सबसे प्रेम की बातें करता हूँ, गले से लगाकर चिपटाने को 'जी' चाहता है एवं इस रचि लीला को पागलों की भाँति देखने लग जाती हूँ। खिलाड़ियों का खेल देखकर कभी हँसी आती है कभी रुआँस आ जाती है। मेरे भगवान अब ती न सर्दी सताती हैं न गर्मी ही सताती है, अब तो न गम रहा न खुशी ही रही यही ख्याल आता है। आखिर दुःख-सुख क्यों बनाये गए!! अब तो जो दुख थे वह भी सुख बन गये यह आपने प्रत्यक्ष अनुभव में लाकर दिखा ही दिया जो मैं नित्य देखा करती हूँ। मेरे प्रभुवर! अब तो अन्दर शून्यता लगती है, यह भी सोचता हूँ आखिर क्रोध, लोभ, मोह, झूठे झगड़े जंजाल में रहकर एवं साथ में पिसता रगड़ता हुआ भी शेष में अलग पाता हूँ, आखिर मेरा जीवन क्यों बना है, मैं क्यों जी रहा हूँ या मर चुका। जिस नाम से दुनिया मुझे पुकारती है, वह नाम ही नहीं रहा, न जाने कहाँ गुम हो गया, चला गया। समाप्त हो चुका अब न तो नाम ही रहा न रूप हो। मेरे 'प्रभुवर' दुनिया केवल गुरु उसी को समझती है जो पुस्तकों में पढ़कर गुरु-मन्त्र कानों में फूँक देते हैं, संसार ने अपने आँखों के आगे न जाने किस रंग का चश्मा चढ़ा लिया जो असलियत को देख हो नहीं सकते। जिससे भी कहता हूँ मस्तक पर ठोकरें ही मिलती हैं मगर बड़ा ही आनन्द आता है उन ठोकरों में भी। जहाँ 'मालिक' का काम हो, वहाँ यह मस्तक हो! मेरे भगवान, आपका प्रेम भरा हाथ सभी पर है!

आपका चरण रज सेवक,

श्री बाबूजी महाराज का एक तिनसुकिया के पत्र का पत्रोत्तर

प्रिय भाई, शुभ आशीर्वाद !

तुम्हारा पत्र २०-४-५६ का लिखा हुआ मिला। अध्यात्मिक हाल तुम्हारे अच्छे चल रहे हैं और धीरे-धीरे लय अवस्था बढ़ रही है। प्रेम के माने यह हैं कि प्रियतम की ओर ऐसा हो जावे कि उसको यह न पता रहे कि मैं क्यों ईश्वर को चाह रहा हूँ। जहाँ तक अपना स्वार्थ है वहां तक भक्ति नहीं कही जा सकती। इसलिये तुमको यह पता न चलना कि हम 'मालिक' की क्यों पूजा करते हैं यह एक बड़ी अच्छी हालत है। 'मालिक' को सर्वव्यापी अनुभूत होना इस बात को बात को बताता है कि 'मालिक' में लय-अवस्था इतनी बढ़ रही है कि उसकी आत्मा जो सबमें मौजूद है मालिक हो दिखाई देती है। इसी हालत के लिये कबीरदास ने लिखा है:—

दर द्वार दर्पण भयो, जित देखो तित तोई।
काकर, पाथर, ठीकरी, भई आरसी मोई॥

जब प्रेम की अग्नि प्रज्वलित होती है तो वह बातें जो बाधक होती हैं और ईश्वर की तरफ आकर्षित होने नहीं देती हटने लगती है। लय अवस्था प्राप्त करने के लिये ही हमारे श्री रामचन्द्र मिशन में जोर दिया गया है और मैंने 'Efficacy of Rajyoga' में इसकी अवस्थायें आलोकित भी की हैं।

जब तक शरीर का भान रहता है तब तक हम मालिक के द्वार तक भी नहीं पहुँच पाते इसका जाना आवश्यक है। इसके बाद आत्मा का भान आरम्भ होता है उसको अभ्यासी मालिक समझने लगता है। जब यह भान भी चला जावे अर्थात् Body consciourness और Soul consciourness भी जाती रहे तब समझना चाहिये कि हम ईश्वरमय होना शुरू हो गये हैं। इसके बाद भी बहुत सी अवस्थायें चलती हैं जिनमें लय अवस्था और फिर उसकी तुरीया आती रहती है। मरने के बाद जो जिन्दगी मिलती रहती है वह उसकी तुरीया कहलाती है। सूफियों ने फना फिल्लाह का दर्जा बहुत बड़ा रखा है, और है भी ऐसा हो। इसको अभ्यासो की आखिरी हद कह सकते हैं। यह बात क्या है और अगर सोचो तो सही तो चीज भी बड़ी सहज है। हम अपने आवरणों को जब उतार देते हैं तो फिर ईश्वरीय लय अवस्था आरम्भ हो जाती है। जब हम अपना सब कुछ खो बैठें तो फिर हम गुणातीत होने लगते हैं जो ईश्वरीय लय अवस्था या फनाफिल्लाह की हालत कही जाती है। यहाँ पर पहुँचने तक बहुत सी हालतें बदलती हैं, और रास्ता यहाँ तक का Transmission या प्राण आहुति से ही आसान हो सकता है। इसलिये कि जब हम सूक्ष्म गतियों में जाना आरम्भ करते हैं तो वह शक्ति हमको नीचे ढकेलती है और हममें इतनी शक्ति पैदा नहीं हुई कि उस लहर के ऊपर चढ़ पावें। इसलिये वही पथ-प्रदर्शक यहाँ पर सहायक हो सकता है जिसने इन हालतों को पार कर लिया हो। जो इन हालतों को पार किये होता है उसमें यह शक्ति पैदा हो जाती है और उसको इस पर काबू हो जाता है। फिर वह अपनी इच्छा-शक्ति के सहारे अभ्यासी को धूर तक ले जा सकता है। सच्चा पथ-प्रदर्शक ऐसा ही मनुष्य कहलाने योग्य है। अगर हम किसी महात्मा या गुरु के पास जाते हैं वह हमको ईश्वरीय पूजा के ढंग बता देता है या वह क्रियायें जो किताबों में लिखी हुई हैं, हमें बताता है तो मैं समझता हूँ कि जिज्ञासु और गुरु में कोई फर्क नहीं, इसलिये कि अगर जिज्ञासु पढ़ा हुआ है तो पुस्तकों को देखकर वह भी उस अभ्यास को जान सकता है। हमें तो ऐसे गुरु की जरूरत है कि जो पथ में अपना सहारा देकर चलाता चले। स्वामी विवेकानन्द जी ने भी एक जगह कहा है कि हमको ऐसे गुरु के पास जाना चाहिए जिसमें प्राण-आहुति देने की शक्ति हो। तभी काम बन सकता है। बिना इसके उलटे धार पर अपने बेड़े को सही ले जाना बहुत कठिन है।

शुभचिन्तक,
रामचन्द्र
प्रेसिडेन्ट, श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहाँपुर

प्रणाम

१

घिर रही सजल थी घोर रजनि,
हाँ, जग था केवल तमस्-पुंज,
तुम उतरे ले कर विधु-दीपक,
अरु मानवता का विमल कुंज।

२

फिर आलोकित हो उठी मही,
नभ के तारक हो गये सजग,
वह दिशि कंचन हो गई जिधर,
बढ़ गये तिहारे चरण-सुभग।

३

निज श्वास और प्रतिश्वासों में,
मानव का हाहाकार लिये,
इच्छा का कारागार लिये,
बेसुध का पारावार लिये।

४

आओ बैठो अन्तर में भर दो,
ज्योति और आशा ललाम,
कैसे स्वागत मैं करूँ देव,
तुम प्रणाम शत-शत प्रणाम।

५

आओ नव-नव अनुराग लिये,
अरु युग-परिवर्तन का सपना,
कैसे सम्भव जग-सैकत पर
[illegible] चरण-चिन्ह का नव मिटना।

६

क्षितिज-पटी पर हीरक से,
अब जड़ जावेगी अमर कहानी,
आज हिमालय तक गूँजेगी,
'बापू' तेरी कोमल बानी

७

निःश्वास अमर में है तेरी
उस महाशक्ति की चरम विजय,
हुंकार अनोखा कर देगा,
जगती में नीरव महा-प्रलय।

८

मस्तक पर अंकित चन्द्र-किरन,
'हिमकर' तव शोभा है ललाम।
कैसे स्वागत मैं करूँ देव,
तुमको प्रणाम शत-शत प्रणाम।

भजन

यह तन छार-छार उड़ि जावै।

तऊ सखी, वह रूप-माधुरी,
कैसेहुँ तजि नहिं आवै। यह···
कण-कण मिलि माटी वायू संग, जहँ-जहँ उड़ि-उड़ि जावै
तृन-तृन सों करि संगत प्रभु के, वही गीत पुनि गावै।
जिन कन-कन को भाग बड़ो, सो बन बदरी जग छावै,
बूँदन बरस-बरस प्रीतम के, शुभ-सँदेश पहुँचावै।
राम रम्यो सब कहत जगत में, नाहिं न हिय कछु भावै,
'संध्या' बैठो सब तारन सौं, एकहिं राग बजावै। यह···

बन्दना

[लेखक :—श्री भुवनेशचन्द्र रस्तोगी]

आज बाबू आप से है यह धरा परिपूत।

सद्भावना की सौम्य मूर्ति विश्व के प्रिय बन्धु
दोन, हीन, अछूत, लघु को चाहते हो, किन्तु
हो महायोगी महात्मन् धर्म के शुभ केतु
अतुल ज्ञानी भुवन के जन्मे भुवन के हेतु

प्रेम की हो मूर्ति बाबू शान्ति के वरपूत।
आज बाबू आप से है यह धरा परिपूत।

उच्च और उदार हो प्रभु हिम-निलय समान
विस्तीर्ण अरु गम्भीर हो जैसे जलेश महान
निर्भीक माता जाह्नवी से ही शुचित्व निधान
अन्तरिक्ष समान ही शुभ, स्वच्छ ज्योतिर्वान

प्रेम करते हो सदा जितने भुवन के भूत।
आज बाबू आप से है यह धरा परिपूत।

चाहते हो आप निशि-दिन विश्व का कल्याण
आत्मज्ञानी हों सभी अरु हों सभी मतिमान
स्वप्न जग को जान कर मत मोह में हों लोन
प्रेम हो उस ईश से जैसे कि जल में मोन

सुख-दुःख सारे विश्व के सम हों सभी अनुभूत।
आज बाबू आप से है यह धरा परिपूत।

सर्व भूतों के लिये तुम नित्य जीवन दे रहे
धीरता अरु वीरता से हित सभी का कर रहे
बन्धु सब प्राणी तुम्हारे विश्व है परिवार
शत्रु को भी प्राप्त है बाबू तुम्हारा प्यार

उस अनूप अरूप के लावण्य हो तुम रूप।
आज बाबू आप से है यह धरा परिपूत।

आप का सन्देश पावन प्रेम का अभिराम
विश्व को देता सदा निर्वाण-पथ सुख-धाम
और सब को नित्य करता बल प्रदान प्रकाम
प्रेम-श्रद्धा-भक्ति से करता 'भुवन' प्रणाम

रक्षा करो इस 'भुवन' की यह मूर्ख और कपूत।
आज बाबू आप से है यह धरा परिपूत।

आप के सब सद्गुणों को हम नहीं पहचानते
सूर्य को दीपक दिखाना मात्र केवल जानते
भटकता था विश्व में पाता न था कुछ सार
शरण में आया प्रभू कर दो इसे भी पार

उर शुष्क को फिर हरा कर आओ बनो जलदूत
आज बाबू आप से है यह धरा परिपूत।

✪

प्रभु दृढ़ आस चरण-कमलन को।
जैहों उतरि पार भव-निधि के रख बाबू पद-रज को।
बनिहैं कबहूँ चकोर देव हम इन पावन नख-विधु को।
मधुकर बन रस लेहौं कब प्रभु इन सरोज चरणन को।
तुम ही आस हो हे पावन प्रभु पापी नीचु 'भुवन' को।

✪

जीवन से क्या डरना

[लेखक :—श्री के० एल० केजरीवाल 'रमाकान्त']

बन्दे ! जीवन से क्या डरना
राही सम हो मानव जीवन
जोवन से क्या डरना
सुख-दुख हैं ये नाले-नदियाँ
पार है इनको करना
लड़ जीवन से फिर मरना
वन्दे ! जीवन से क्या डरना
जोवन है चार दिन का
इसको हँसते-हँसते खेना।
पड़ जावे भँवर में नैया
तो प्रभू को याद करना।
लड़ जीवन से फिर मरना।
बन्दे ! जीवन से क्या डरना
राही सम हो मानव-जीवन
जीवन से क्या डरना।

✪

दिव्य दृष्टि

[लेखक :—श्री रामचन्द्रजी महाराज]

मनुष्य को दो आँखें तो साधारणतया सब जानते ही हैं परन्तु वैज्ञानिकों का कथन है कि मनुष्य के ललाट में एक गुत्थी ऐसी होती है जिसका रूप आँख के समान होता है और जिसका सम्बन्ध दिव्य दृष्टि से होता है, यही मनुष्य का तीसरा नेत्र कहा गया है। परन्तु इसके बारे में जो कुछ भी ज्ञान मृतक शरीर की चीड़-फाड़ करने से प्राप्त है वह अधूरा है। इसका सही अंदाजा योग के द्वारा ही हो सकता है। महर्षि पातंजलि जी महाराज ने अपने ग्रन्थ में संयम की विधि का वर्णन किया है और यही योगी का सबसे बड़ा अस्त्र है। इसके द्वारा एक योगी अपने आत्मिक-बल से अपने शरीर के अन्दर की प्रत्येक बात व दशा का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। शरीर के अन्दर की कुल कलें चलती हुई देख सकता है। शरीर के किसी भी भाग का पूर्ण चित्र उसकी दृष्टि में आ जाता है और वह जहाँ पर जिस शक्ति की आवश्यकता होती है, प्रयोग कर सकता है। छोटी से छोटी कोई बात भी उसकी दृष्टि से छिपी नहीं रहती। इसके देखने की विधि यह है कि जिस स्थान का ज्ञान प्राप्त करना है उसको फैलाकर उसका पूर्ण प्रभाव योगी अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा वायु-मंडल में उत्पन्न कर देता है तथा फिर उसका सूक्ष्म निरीक्षण करता है। इस प्रकार वहाँ का पूर्ण चित्र उसको दृष्टि में आ जाता है तथा इसमें समय भी बहुत कम लगता है। हाँ उसके प्रभाव देखने और समझने में कुछ समय अवश्य लगता है।

अब इस दिव्य-चक्षु के विषय में अपना निजी निरीक्षण तथा अनुभव जो योग द्वारा मैंने किये हैं, पाठकों के सम्मुख रखता हूँ। इस गुत्थी में जिसे Penial Eye कहा गया है, तीन रंग होते हैं। सामने वाला भाग चमकदार होता है तथा इसकी बनावट रेत के कणों के समान होती है, यही बाहरी भाग बुद्धि का स्थान है। इसके पीछे का भाग अर्थात् बीच वाला भाग कुछ स्याही लिये हुये जामुन के रंग का होता है। सबसे पीछे का भाग कुछ लाली लिये होता है और यही Divine Intelligente का स्थान है। योग में पहले यही बाहरी भाग जो चमकदार है, खुलता है। जब मनुष्य इसमें भली प्रकार प्रवेश कर लेता है, तब मध्य भाग खुलना प्रारम्भ होता है तथा उसमें चमक उत्पन्न हो जाती है, परन्तु उस चमक में जामुन के रंग की झलक अवश्य रहती है। सब से बाद में अन्तिम भाग खुलने की बारी आती है और उसमें चमक पैदा होने लगती है। जिस योगी को यह तीनों दशायें प्राप्त होती हैं वह उच्च श्रेणी का योगी होता है। आगे बढ़ने पर यह दोनों रंग भी समाप्त हो जाते हैं, और एक ही दशा अर्थात् चमकीलापन रह जाता है। इस स्थान का सम्बन्ध शुक्र के तारे से है, और जिस मनुष्य को यह दशा पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाती है उसको शुक्र के तारे पर Mastery का आधिपत्य होता है। इस ग्रन्थि का सम्बन्ध Spinal chord बिल्कुल नहीं है, बल्कि दिल के दाहिने भाग से है। जब यह स्थान पूर्ण रूप से खुल जाता है और उससे नीचे के चक्र शुद्ध हो जाते हैं तभी Divine wisdom दैविक बुद्धि का आरम्भ होता है, इसीलिये योग में इस स्थान को बुद्धि का स्थान कहा है। इससे कुछ आगे बढ़कर एक और स्थान होता है, जिसके जाग्रत हो जाने पर आन्तरिक बातों का अनुभव बहुत

शेष पृष्ठ ६ पर देखिये

प्रियतम की खोज

[लेखिका :—कुमारी केसर]

"देखो, वह मेरा हाथ झटक कर चला गया।"

"क्यों ?"

"कुछ बात नहीं; केवल एक बार उसने यह अवश्य कहा था कि तुम्हारे हृदय में विषय-वासनाग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है और मैं उसकी लपटों से ध्वंस हुआ जा रहा हूँ।"

"तो अपनी इस अग्नि को बुझा दो, तब सम्भवतः वह आवेगा।"

"हाँ, मुझे इस अग्नि को बुझाना ही होगा, क्योंकि मैं उसके बिना रह नहीं सकती।"

"तो जाओ, उसे खोजने का यत्न करो।"

× × × ×

वह चल दी; बेचैन मन उसे शान्ति नहीं लेने देता था। परन्तु कहाँ जाये, किधर अपने प्रियतम को ढूँढ़े, कुछ समझ में न आता था। वह चिल्लाती थी, पुकारती थी, अदृश्य-पथ की ओर भागती चली जाती थी, परन्तु अभिलषित प्रिय को न पाकर क्रन्दन कर उठती थी। कोई कहता, 'अरे! इतने आर्त स्वर से क्यों रुदन कर रही है? तू थकी है, तनिक बैठ कर विश्राम कर ले।' परन्तु उसे विश्राम की इच्छा कहाँ; प्रिय-मिलन की तड़प, छटपटाहट उसे चैन नहीं लेने देती थी। हृदय की कचोटन उसे खाये जाती थी; परन्तु प्रिय-मिलन का कोई उपाय न सूझता था।

बेचारी चारों ओर दृष्टि दौड़ाती थी, परन्तु कोई ऐसा पथ-प्रदर्शक नहीं दिखलाई देता था, जो उसे प्रिय तक पहुँचाने का भार ले ले। अनेक प्रकार की पूजायें, अर्चनायें उसे अपनी ओर आकृष्ट करतीं और उसे अपने समीप बुलाकर प्रिय-मिलन का आश्वासन देतीं। वह दुखियारी भी उनकी बात मान कर उन्हें कार्यान्वित करती, परन्तु मिलन तो दूर रहा, उसे 'उसकी' एक झलक भी न मिलती। बेचैनी बढ़ती जाती थी, मिलन की तीव्र लालसा अंतस् को मथे डालती थी, परन्तु वह असहाय-सी, चतुर्दिक् नेत्र फाड़-फाड़ कर देखती थी। जो यह कहता था कि वह उसे 'उस' तक पहुँचा देगा, वह उसी की बात मान कर अनेक व्रत-उपवासों, साधनों एवं क्रियाओं का अवलम्बन लेती थी। फलस्वरूप शरीर तो कृश होता जाता था, परन्तु मन को शान्ति नहीं मिलती थी।

विविध क्रियाओं एवं साधनों को अपनाने पर भी जब उसे इच्छित वस्तु प्राप्त न हुई तो बुद्धि ने बड़े-बड़े प्रसिद्ध महात्माओं तथा साधुओं का आश्रय ग्रहण करने की प्रेरणा दी। तन दुर्बल हो चुका था, परन्तु 'उससे' मिलने तथा 'उसके' दर्शनों की तीव्रतम इच्छा ने मन को शिथिल नहीं होने दिया था। अतः बुद्धि से प्रेरित होकर वह साधुओं तथा महात्माओं का आश्रय ग्रहण करने चल पड़ी। अनेक प्रसिद्ध महात्माओं का सत्संग किया, अनेक साधुओं की कुटियों में साधनारत रही, परन्तु कोई लाभ न हुआ। क्षणिक शान्ति अवश्य मिल जाती थी, परन्तु जिस मिलन की इच्छा उसके मन को अशान्त बनाये हुए थी, वह उसे न मिलता था। कभी-कभी कुछ आशा बँधती थी, परन्तु कुछ काल उपरान्त निराशा अपना आँचल फैला कर उसे आवृत कर लेती और आशा, घोर निराशा में परिवर्तित हो जाती थी। क्या करे वह? कहाँ जाये? किसका आश्रय ग्रहण करे? कुछ समझ में न आता था। हार कर बैठ रही वह। तन, मन, बुद्धि सभी ने जवाब दे दिया। अब कुछ भी कर सकना उसके लिए असम्भव-प्राय था।

परन्तु यह क्या! नैराश्य-गगन में आशा-किरण की भाँति एकाएक अन्तरतम से आवाज आई—"अरे! तू 'उसी' पर सब-कुछ छोड़ दे; तभी 'वह' तुझे मिल सकता है अन्यथा नहीं। तू उस 'सहज' को पाने के लिये 'सहज-मार्ग' का ही अवलम्बन ले, तभी तू 'उस' तक पहुँच सकेगी।" यह सुनते ही उसमें तत्काल चेतना आ गई। तन-मन की सम्पूर्ण थकान एकदम लोप हो गई। उसमें नवीन जीवन का प्रादुर्भाव हुआ और थकान का स्थान स्फूर्ति ने ले लिया। उसने सब-कुछ अपने 'प्रिय' पर छोड़ दिया और अपने को बिल्कुल दीन-हीन बना लिया। अब तो न किसी बात की चिन्ता थी और न इच्छा। वैसे तो मन पूर्ण निश्चिन्त हो गया था, परन्तु मन की तड़प अभी ज्यों-की-त्यों थी। मन को चैन मिलता भी तो कैसे, अभी प्रिय-मिलन की घड़ी तो आई ही नहीं थी। धीरे-धीरे तड़प का स्थान कसक ने ले लिया और अन्तर में सदैव के लिए अपना स्थान बना लिया। शनैः-शनैः इसका अनुभव भी यदा-कदा ही होता। अब वह अपने को भूलती चली जा रही थी। और एक दिवस विस्मृति के सागर में पूर्णतयः निमग्न होने पर वह क्या देखती है कि 'प्रिय' सन्मुख खड़ा है और उसे अपने' में लय करने को व्याकुल है। परन्तु यह क्या? वह आत्मविभोर-सी वहीं खड़ी रह गई। इतनी चेतना भी नहीं कि दीर्घ-अवधि से बिछुड़े हुए प्रियतम के पावन चरणों को दौड़ कर पकड़ ले। उसकी ऐसी दशा देख 'प्रिय' ने स्वयं ही बढ़कर उसे गले लगा लिया और कहा कि, "अब मैं तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा।"

परन्तु वह केवल एकटक अपने 'प्रिय' को ही निहारे जा रही थी, थकती ही न थी। अन्त में क्या हुआ कि उसके पलक-पट खुले के खुले ही रह गये और वह अपने 'प्रियतम' में समा गई। यह था उसका 'शाश्वत मिलन।'

(पृष्ठ ९ का शेषांश)

अच्छा हो सकता है। अर्थात् वायुमंडल में जो सुविचार या कुविचार तैर रहे हैं, उनको जाना जा सकता है। आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में दूसरों की आंतरिक स्थिति जानने में भी यही स्थान सहायक होता है। इसका रंग भूरा होता है। इस स्थान पर पहुँच कर हमारी दिमागी intellectual दौड़-धूप समाप्त हो जाती है और आध्यात्मिकता आरम्भ होती है। इसमें पूर्ण रूप से प्रवेश कर लेने के पश्चात इसका भूरापन जाता रहता है, और यह स्थान भी कुछ प्रकाशित हो जाता है। इससे आगे की ग्रन्थि-पर कोई रंग नहीं होता है। कहने-को कुछ अधिक सफेद कुछ हल्का अंधेरा मिला हुआ रंग कह लो, या दूसरे शब्दों में न प्रकाश, न अन्धकार। इसकी सहायता से हम उन घटनाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो इस संसार में घटित होने से पहले ब्रह्मांड में सूक्ष्म रूप से हो चुके। परन्तु यह तभी हो सकता है जब हम इस दशा को पूर्ण रूप से अपना लें।

तीसरी आँख, जिसके विषय में कहा गया है कि यदि खुल जाये तो क्षण भर में समस्त संसार को नाश कर सकती है। इसका इन ग्रन्थियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह Destructive eye (विनाशकारी नेत्र) जैसा कि शिवजी के विषय में वर्णन है, सिर के पीछे Occipital promincence गुद्दी के स्थान पर है, जिसके विषय में मैं अपने अंग्रेजी के ग्रन्थ Efficacy of Rajyoga में वर्णन कर चुका हूँ। यही विनाशकारी नेत्र कृष्ण जी महाराज महाभारत युद्ध के समय अट्ठारह दिन तक बराबर खोले रहे, और जिसके परिणाम स्वरूप इतना विनाश हुआ। ✪

सदाचार

[श्री रामदास चतुर्वेदी, बी० ए०, एल-एल० बी०]

भारतवर्ष के पुराने आचार्य्यों ने सदाचार को प्रथम धर्म बतलाया था, उन्होंने उपदेश दिया था कि 'सदाचारः प्रथमो धर्म्मः', सत्य तो यह है कि संसारारम्भ से लेकर आज तक मनुष्यों ने सदाचार की आवश्यकता तथा महत्ता को समझा और माना है, भविष्य में भी निश्चय ही यही बात होगी, सदाचार मनुष्यत्व का प्राण है, जीवन की शोभा है, सुख तथा शान्ति का प्रसारक और वर्द्धक है, नम्रता इसका आधार है, कठोरता इससे द्रोह मानती है, प्रेम इसका बन्धु है और पवित्रता इसकी भगिनी है।

'सदाचार' शब्द सद् या सत् (इन दोनों का एक ही अर्थ है) में 'आचार' शब्द जोड़ने से बनता है जिस प्रकार 'संग' शब्द में 'सत्' जोड़ देने से 'सत्संग' शब्द बनता है, 'सत्' का अर्थ है 'श्रेष्ठ' और 'आचार' शब्द का अर्थ है 'आचरण' या 'व्यवहार' या 'स्वभाव', स्पष्ट है कि साधु जनों अर्थात् सज्जनों का संग ही 'सत्संग' कहलाता है और उनका आचरण ही 'सदाचार' माना जाता है, 'संत' शब्द भी 'सत्' से ही निकला है।

अभी तक तो मैं ने साधारण बातें निवेदन की हैं, अब देखिये कि हमारे श्री रामचन्द्र मिशन में इस सम्बन्ध में क्या बतलाया गया है, फतेहगढ़ निवासी महात्मा रामचन्द्र जी महाराज (जिनके शुभ नाम पर हमारी आध्यात्मिक संस्था खोली गई है) लिखते हैं—

'इखलाक (आचार) एक वसीय (लम्बी-चौड़ी) चीज़ है जिसमें हर तरह का इखलाक शामिल है और उसके दायरे (घेरे) में हर आयतदाली कैफियत (साम्य अवस्था) आती है जो पैदायशे आलम (संसारारम्भ) के वक्त (समय) पर थी...तर्जे गुफतगू (बात-चीत करने का ढंग) निहायत (बहुत ही) मुलायम बिला Rise (चढ़ाव) और Fall (उतार) होना चाहिये, इसकी शक्ल (सूरत) बहती हुई होना चाहिये यानी जैसी कि कुदरत की धार (ईश्वरी धारा) बह रही है वही तर्ज (ढंग) होना चाहिये यानी (अर्थात्) इकसार,...इसका बहाव जब कुदरत की धार से मिल जाता है—तो उसमें ताकत (शक्ति) पैदा हो जाती है और गोयाई (बात-चीत) में असर (प्रभाव पैदा हो जाता है। 'हर जिज्ञासु अपनी इखलाकी (आचार-सम्बन्धी) हालत सम्भालने की शुरू से ही कोशिश (प्रयत्न) करे, कोई बात मुँह से न निकाले जो दूसरों को नागवार हो (अर्थात् बुरी लगे) और न कोई ऐसी हर्कत (कर्म) करे जो दूसरों को नापसन्द हो, इन दोनों बातों का खयाल रखते हुये इखलाक (आचार) के सुधार में लग जाओ, यह इब्तदाई (आरम्भिक) उसूल (नियम) है, इस पर कोई खयाल नहीं रखता, मैं रुहानियत (आध्यात्मिकता) का इस कदर (इतना) दिलदादा (प्रेमी) नहीं जितना कि इखलाक (सदाचार) का, कुवाय बातिनी (अन्तःकरण तथा सूक्ष्म इन्द्रियाँ खामोश (शांत) करने की कोशिश (प्रयत्न) कोई कोई शख्स (व्यक्ति) अगर (यदि) ध्रुव पद तक अपनी रसाई (पहुँच) कर ले मगर इखलाकी कमजोरियाँ (त्रुटियाँ) उसको बाकी रहें तो मैं समझता हूँ कि अब तक उसको असल जौहर (सच्चा रत्न) दस्तयाब (प्राप्त) नहीं हुआ'।

'मुकम्मल (पूर्ण) इखलाक उसको कहते हैं कि हर चीज जो इन्सान में है अयतदाल (समत्व) पर आ जावे और वही कैफियत (हालत) अख्तियार (प्राप्त) कर ले, अगर इसका भी अभाव कर दे तो इसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता, यह बात जरूर

मुश्किल (कठिनता) से नसीब (प्राप्त) होती है मगर इसके यह मानी (अर्थ) नहीं कि हिम्मत न बाँधी जाय, तवज्जोह (Transmission of Yogic अर्थात् प्राणाहुति) से यह बात पैदा हो सकती है'।

स्पष्ट है कि सदाचार की जड़ समत्व है, यदि हम कोई कर्म क्रोध के वेग में, कोई लालच ग्रसित हो कर, कोई मद या मत्सर से प्रभावित होकर और कोई लोभादि ग्रसित होकर करेंगे तो वे कर्म गलत होंगे, सदाचार कदापि न होंगे, सदा री वही होगा जो ठंढे दिल से काम लेगा, जिसको : ने ऊपर काबू होगा और जो विचारशील होगा

महात्मा कबीरदास जी कहा है :—

'मन थिर, चित् थिर, सुरति थिर,
थिर भया सकल शरीर,
ताके पीछे हरि फिरें, कहैं कबीर कबीर।'

जिसमें ऐसी स्थिरता होगी वही सच्चा सदाचारी होगा, इसी चीज की प्राप्ति के लिये पूज्य गुरुदेव (मिशन के प्रधान जी) Plainness (समतलता, एकरसता), Simplicity (सादगी, सरलता) और Calmness (स्थिरता, शांति) पर इतना जोर देते हैं।

हमारे देश में अनेक अनुभवी ज्ञानी जन हुये हैं जो स्वय को और जगत को ब्रह्म का ही रूप जानते थे और इस अनुभव के कारण उनका आचार सदैव श्रेष्ठ रहा, जो हम सबको ब्रह्म ही मानेगा अर्थात् एकत्व में स्थित रहेगा वह दूसरों के साथ अवश्य ही बहुत अच्छा बरतावा करेगा परन्तु श्री तुलसीदास जी के समय में ऐसे सच्चे ज्ञानी ढूँढ़े नहीं मिलते थे, उन्होंने निम्न लिखा है:—

'वाक्य ज्ञान अत्यन्त चतुर
भव पार न पावे कोई'

उनके शब्दों का भावार्थ यह है कि उनको ज्ञान के सम्बन्ध में बड़े २ निपुण जबानी जमा खर्च करने वाले तो मिले पर इनमें ऐसा एक व्यक्ति भी न मिला जिसने वास्तव में भव-सागर पार कर लिया हो, सब के सब अन्दर से माया ही में फँसे थे, एक समय था कि भक्ति मार्ग के अनुयायी भी ऐसे थे जो जगत् को अपने इष्ट देव का रूप मानते थे और स्वयं को उसका सेवक समझ कर आचरण करते थे, इनका भी आचरण बहुत अच्छा होता था।

मैंने अपने जीवन में एक महाशय को देखा है जो कि अपने समय में भारतवर्ष के प्रमुख नेताओं में माने जाते थे, वे राजनीति के प्रगाढ़ पंडित थे, वे उस समय हमारे देश में बहुत ही उच्च कोटि के सदाचारी भी माने जाते थे, पता लगाने से मालूम हुआ कि वे स्वयं को इस देश के निवासियों का सेवक माना करते और इस हेतु वे बड़े सदाचारी बन गये थे, उनके पास चाहे कोई दरिद्री जाता था, चाहे कोई धनी-मानी जाता था या मूढ़, वे तुरन्त सबको प्रणाम करते थे, सबसे सहानुभूति प्रगट करते थे और जो कुछ सेवा उनसे बन पड़तो वह कर ही देते थे।

हमारे देश में ज्ञानी तीन प्रकार के हुये हैं :—
(१) गृहस्थ ज्ञानी—यह सज्जन गृहस्थो में जीवन बिताते थे, समस्त गृहस्थ-धर्मों का पालन करते थे और ऐसा पालन करते थे कि कोई यह जान ही नहीं सकता था कि ये ज्ञानी हैं, वह साधारण माया-ग्रसित गृहस्थों की भाँति लौकिक कार्यों में खूब दौड़े २ फिरते थे, कभी खूब प्रसन्न होते और कभी खूब रोते दिखाई देते थे परन्तु उनके अन्तर में सदैव ज्ञान होता था, संसार नहीं होता था, जहाँ तक मेरा अपना विचार है ऐसा ज्ञानी होना सबसे कठिन है।

दूसरे प्रकार के गृहस्थ ज्ञानी ऐसे होते थे जो अपनी गृहस्थो का काम भी करते थे और आध्यात्मिक परोपकार भी करते थे।

(२) विरक्त ज्ञानी—यह भी दो प्रकार के होते थे, प्रथम तो ऐसे होते थे जो तपस्वियों तथा हठ-योगियों की भाँति जङ्गलों में निवास करते थे, यह ज्ञानी बिल्कुल वासना-हीन होते थे, दूसरे प्रकार के विरक्त ज्ञानियों में लोक-सेवा की वासना होती थी, क्योंकि गृहस्थी में रहकर लोक-सेवा को पूरा समय नहीं दिया जा सकता इस हेतु वे विरक्त हो जाते थे, इन लोगों को 'संत' कहा जाता था, ये देश में भ्रमण करके राजाओं से मिलके तथा ग्रन्थादि लिख के देश-सेवा किया करते थे और कोई-कोई संसार सेवा भी करते थे, संत लोग वेद-शास्त्र के प्रवीण ज्ञाता होते थे और बड़े सदाचारी होते थे, इनके स्वभाव की इस देश में बड़ी प्रशंसा थी और वास्तव में जिसका स्वभाव सद् होगा वही सदाचारी बन सकेगा, इनके सुन्दर स्वभाव को लोग 'संत स्वभाव' कहने लगे थे, आज तक यह स्वभाव परम श्रेष्ठ माना जाता है, राक्षसी स्वभाव इसके विपरीत होता है , संत-स्वभाव बनाने के लिये सहन-शीलता का अभ्यास परमावश्यक है, टेवों (आदतों) का सुधार भी उतना ही आवश्यक है, भक्ति बढ़ा देने से परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है परन्तु संत-स्वभाव बुद्धिमान ही बना सकता है क्योंकि इसमें अपनी त्रुटियों को, कुटेवों को और नुक्सों को देखना पड़ता है और उनसे अपने को साफ करना पड़ता है अर्थात् दुर्गुणों को हटाना पड़ता है और सद्-गुणों को अपने अन्दर जनाना पड़ता है, आइये अब इस स्थल पर हम कुछ संत-स्वभाव का दिग्दर्शन कर लें, संभवतः ऐसा करनेसे हमको अपने उत्थान में सहायता मिल सकेगी।

१—संतस्वभाव सात्त्विकी होता है अर्थात् वह अपनी आध्यात्मिक उन्नति में तो त्रिगुणातीत हो सकता है, प्रकृति के तीनों गुणों के ऊपर उठ सकता है या उठा हुआ रह सकता है परन्तु उसका कर्म और व्यवहार सात्त्विकी होते हैं अर्थात् वह विवेक और विचार से काम लेता है, वह अल्हड़ों की या जिद्दियों की तरह काम नहीं करता, वह उचित-अनुचित, ठीक-गलत का विचार रखता है।

(२) संत में समत्व रहता है, उसमें पक्षपात नहीं होता, श्री कबीरदास जी ने कहा है :—

'कबिरा खड़ा बजार में माँगे सब की खैर,
ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर।
संत क्यों सबका भला चाहता है?

क्योंकि उसमें विश्व-प्रेम होता है और वह सबके हित-अनहित के दृष्टिकोण से एक निगाह से देखता है, इन्हीं कारणों से वह किसी से बैर नहीं करता, कृष्ण भगवान हर व्यक्ति को वही वस्तु देते थे जिस वस्तु के वह योग्य होता था और वे सबको अपना समझते थे ज्ञान में तो ज्ञानी सबको स्वयं ही समझता है परन्तु व्यवहार में सबको अपना मानता है।

उपरोक्त विवेचन का यह मतलब नहीं है कि पापियों और दुराचारियों से वैसा ही व्यवहार करना करना चाहिये जैसा साधु-सज्जन लोगों से इसका यह भी मतलब नहीं है कि हम दुर्जनों से उतना ही प्रेम करें जितना सज्जनों से हमको सदा सच्चे आध्यात्मिक व्यक्तियों की इज्जत करना चाहिये और उनसे विशेष प्रेम करना चाहिये सद्-गुरु जितना प्रेम अपने शिष्यों से करते हैं उतना उनके शिष्य तो उनसे विशेष प्रयत्न करने पर भी नहीं कर सकते परन्तु आजकल किसी के कपड़े या बाहरी आचार देखकर धोखा न खाना चाहिये विद्या पर भी मोहित न हो जाना चाहिये महात्मा रामदास जी—श्री शिवाजी के गुरु जो—का तो यह उपदेश है कि यदि कोई व्यक्ति सच्चा संत या फकीर नहीं है और बाह्य आडम्बर उसका संतों का है तो ऐसे व्यक्ति का डंडा-डेरा उखाड़ कर फेंक देना चाहिये और उसको अपने बीच से निकाल बाहर कर देना चाहिये और यह ठीक है क्योंकि रँगे

सियारों से तो जनता को स्वयं को बचाना उसका धर्म ही है।

३—संत गुण-ग्राही होता है और उसमें अहंकार नहीं होता—मैंने ऐसे लोग देखे हैं जिनको अपनी तपस्या तथा लोक-सेवा का अहंकार था, आज-कल लोगों को अपने ज्ञान, अपनी भक्ति और अपनी विद्या का बहुधा अहंकार हो जाता है परन्तु सच्चा सन्त अहंकार-हीन होता है, वह जिन लोगों से परिचित हो जाता है उनके सद्गुण ग्रहण कर लेता है उनके दुर्गणों से स्वयं को बचाये रहता है, वह ईश्वर को सद्गुणों की खानि मानता है इस लिये वह सद्गुणों के अपनाने में कभी थकता ही नहीं, जहाँ और जब और जिसमें वह कोई सद्गुण देखता है वह तुरन्त बड़ी प्रसन्नता के साथ सद्गुण को अपना लेता है क्योंकि ईश्वर का प्रेमी कोई ऐसा हो ही नहीं सकता जो पवित्रता और सद्गुणों का प्रेमी न हो।

४—सन्त मीठे बचन बोलता है, उसको मान-अपमान की परवाह नहीं होती, वह न कड़े बोल बोलता है और न बड़े बोल बोलता है, उसके मन में खयालात भी इसी प्रकार के उठा करते, स्वयं को औरों से बड़ा और ऊंचा नहीं मानता, जिस व्यक्ति में खुदी अर्थात् अहंता बहुत घट जाती है उसका ऐसा ही हाल हो जाता है, ऊँच-नीच के खयाल को जड़ अहंता ही है, अहंता ही संसार है, अहंता ही माया है, अहंता ही ममता है।

५—सन्त ज्ञानी-भक्त होता है इस देश में बड़े २ ईश्वर-भक्त हुए परन्तु यह ईश्वरी भेद की बात मुझको श्री गुरु महाराज से ही मालूम हुई कि ईश्वर अपने भक्तों से इतना अधिक प्रेम करता है कि जिसका समझना अत्यन्त कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है, सन्त भी ईश्वर-प्रेम अथवा ईश्वर-सेवा किसी भी फल पाने की नियत से नहीं करता उसका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि वह यह सब किया करता है वह अकारण ही दूसरों के लिए कष्ट सहन किया करता है।

६—सन्त स्वभाव से ही बहुत क्षमा-शील होता है और वह न्याय भी करता है स्पष्ट है सच्चा न्याय करने वाला वही हो सकता है जो किसी व्यक्ति से या वर्ग से या देश से या किसी संस्कृति से पक्षपात न करता हो और जो सही या ठीक बात के पता लगाने में परिश्रम-शील हो।

हमारे यहाँ सन्तों के सद्गुणों के सम्बन्ध में अनेक संस्कृत और भाषा के ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा है मैं उसको दुहराना नहीं चाहता मैंने तो इस विषय का दिग्दर्शन मात्र करा दिया है जिससे हम सब और पाठकगण लाभान्वित हो सकें।

आज-कल लोग 'मानवता' (इन्सानियत) 'मानवता' चिल्लाया करते हैं वे कहते हैं कि मानव (इन्सान) को मानव बनाना चाहिये परन्तु इस बात पर कोई विचार नहीं करता कि मानव ठीक २ मानव कैसे बन सकता है मेरा दावा है कि सच्ची मानवता अध्यात्म (रुहानियत) की नींव पर ही खड़ी की जा सकती है, अध्यात्मिकता ही मानव को मानव बना सकती है और कोई चीज़ इस कार्य में सफलता प्राप्त नहीं करा सकती, संसार की संस्कृति ही अध्यात्मिक होनी चाहिये।

आचार का सम्बन्ध धर्म से है, साधारण रीति से यह कहा जा सकता है कि धर्मानुकूल आचरण सदाचार है और अधर्मानुकूल आचरण दुराचार है, जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य ठीक ठीक पालन करता है वह सदाचारी है और जो इसके विरुद्ध कर्म करता है वह पापी या दुराचारी है धर्म दो प्रकार का माना गया है, साधारण और विशेष (खास) साधारण धर्म साधारण स्थितियों में मनुष्य मात्र पर लागू माना जाता है और विशेष

धर्म विशेष २ व्यक्तियों में लागू माना जाता है, धर्म का विषय बड़ा गम्भीर होता है इसलिये मैं बारीकियों में इस छोटे से लेख में जाना उचित नहीं समझता, परन्तु कुछ न कुछ निवेदन कर देना आवश्यक मालूम होता है, साधारण या सामान्य धर्म का सार विचार करने पर निम्न उदाहरणों से संभवतः समझ में आ जायगा:—

१—मानव मात्र को ईश्वर की पूजा या उपासना प्रति दिवस करना चाहिये—जिस ईश्वर ने हमको मनुष्य योनि में जन्म दिया है और जिसने हमारे जीवन तथा पालन-पोषण के लिये इतनी सामग्री इकट्ठी कर दी है उसका भजन, स्मरण या पूजन हमारा प्रथम कर्तव्य है।

२—अपना वित्तोपार्जन (धन की कमाई) सम्बन्धी कर्तव्य ईमानदारी के साथ पूरा करना।

३—दूसरों के दुःखों और कष्टों में सहानुभूति प्रगट करना और यथा-शक्ति उनकी सहायता करना चाहिये।

४—किसी को किसी प्रकार की हानि या कष्ट न पहुँचाना चाहिये।

५—अपनी व अपने सम्बन्धियों की तथा माल-असबाब की रक्षा करना चाहिये।

६—आन्तरिक तथा बाह्य पवित्रता का ख्याल रखना चाहिये।

७—कष्टों में तथा मुसीबतों में धैर्य रखना चाहिये।

८—इन्द्रियों और मन पर काबू पाने के लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये।

९—बड़ों को मान दान करना चाहिये अर्थात् उन की इज्जत करना, उनको नमस्कार तथा प्रणाम करना, उनका आदर-सत्कार करना चाहिये, मान-दान बहुत ही बड़ा और महान् दान माना गया है।

१९—सद्-विद्या अर्थात् ब्रह्म-विद्या और रोजगार सम्बन्धी विद्याएँ पढ़ना चाहिये।

विशेष धर्म के उदाहरण निम्न हैं:—

१—गुरु का शिष्य के प्रति धर्म और शिष्य का गुरु के प्रति धर्म।

२—कुटुम्बियों का एक दूसरे के प्रति धर्म।

३—स्वामी का सेवक के प्रति लौकिक धर्म और सेवक का अपने स्वामी के प्रति लौकिक धर्म।

४—देश पर अथवा देश के किसी भाग पर आपत्ति आ जाने से वहाँ के निवासियों का धर्म।

५—मित्र धर्म।

६—सह-पाठी धर्म।

सत्य

साधारणतयः सत्य सामान्य धर्म माना गया है और इस धर्म पर महात्माओं ने बहुत जोर भी दिया है, हर व्यक्ति को सत्य के नियम का पालन करना ही चाहिये, चाहे सत्य बोलने से स्वयं को थोड़ी हानि पहुँच जाय अथवा शारीरिक कष्ट पहुँच जाय, परन्तु जैसा बहुधा होता है हर नियम के साथ अपवाद लगे रहते हैं, इस नियम में भी अपवाद (Exception) हैं, इसीलिये मैं 'सत्य' के सम्बन्ध में अलग लिख रहा हूँ; वे अपवाद निम्न प्रकार के हैं—

(१) प्रिय सत्य बोलना चाहिये, अप्रिय सत्य न बोलना चाहिये; अर्थात वह सत्य न बोलना चाहिये जो सुननेवाले को नागवार हो, जिस सत्य से दूसरों का दिल दुःखी हो ऐसा सत्य कदापि न कहना चाहिये, मजबूरी की बात और है;

(२) यदि कोई व्यक्ति किसी कठोर हृदय के स्वामी की सेवकाई करके अपने बाल-बच्चे पालता है, अन्य कोई तरीके से वह उनके पालन-पोषण में असमर्थ है और उस व्यक्ति से कोई ऐसी गलती हो जाती है जिसके कारण वह यह समझता है कि उस गलती को जान कर उसका मालिक उसे निकाल देगा तो ऐसे अवसर पर पूछे जाने पर यदि वह सेवक झूठ बोलकर

अपना नौकरी की रक्षा कर लेता है तो ऐसा झूठ दंड-नीय नहीं माना जायगा।

(३) यदि कोई ऐसा मौका (अवसर) है कि सत्य बोलने से झगड़ा-फिसाद उठ खड़ा होगा, लाठी चल जायगी, बड़ा उपद्रव मच जायगा, तो ऐसे अवसर पर सत्य बोलने से झूठ बोल देना ही श्रेयस्कर है।

(४) यदि कोई ऐसा अवसर है कि सत्य कह देने से पाप की वृद्धि होती है, (झगड़ा न सही) तौ भी सत्य न कहना चाहिये।

नोट—मैंने समझने के लिये ऊपर चार अपवाद लिख तो दिये हैं परन्तु मैं पुनः कहता हूँ कि 'सत्य धर्म है, सत्य धर्म है, सत्य धर्म है'।

बद चलनी

विवाहित स्त्री-पुरुषों को अवश्य ही नेक चलन होना चाहिये, बद चलनी घोर पाप है और यह अनेक पापों की जननी है, भारतवर्ष में यह पाप अब बढ़ रहा है पहिले बहुत कम था, यह पाप कुटुम्बों के नाश का कारण बन जाता है, नेक चलनी पर जोर देने के लिये मैंने इसको अलग लिखा है, नेकचलनी भी सामान्य धर्म है यानी लोक-धर्म है।

पुराने जमाने में राज्य कुलों में कुल-धर्म भी होता परन्तु अब उसका प्रायः लोप हो गया है।

धर्माधर्म निर्णय के समय में दो कठिनाइयाँ सामने आती हैं, एक तो यह कि कभी कभी धर्म आपस में लड़ जाते हैं और दूसरी यह कि कभी कर्म (किसी काम का करना) धर्म होता है और कभी अकर्म (किसी काम का न करना) धर्म होता है, इसलिये ऐसे समय पर मानव को सावधानी से काम लेना चाहिये।

भिन्न भिन्न देशों में भिन्न २ कर्म सदाचार और दुराचार माने जाते हैं, शिक्षित समाजों में मत-भेद हुआ ही करते हैं, जिस देश में जो कर्म सदाचार माने जाते हों उस देश के निवासियों को वे ही कर्म करने चाहिये। हम लोगों को चाहिये कि हम लोग विशेष प्रयत्न करके पक्षपातों से सदैव बचे रहें क्योंकि जो पक्षपातों से बचा रहेगा वही सदाचारी बन सकेगा और सद्-विचार कर सकेगा, व्यक्तिगत पक्षपात, वर्ग-गत पक्षपात, प्रांतीय पक्षपात, भाषा सम्बन्धी पक्षपात, धार्मिक सम्प्रदाय सम्बन्धी पक्षपात, राजनीति-सम्प्रदाय सम्बन्धी पक्ष-पात, जाति सम्बन्धी पक्षपात, मजहबी पक्षपात इत्यादि, बड़े-बड़े पक्षपात हैं जो हमारे धार्मिक जीवन के विरोधी हैं।

मनुष्य को सदाचारी बनाने में भय बड़ा काम करता है, यूरप और अमरीका में समाज-आतंक (भय) के कारण बहुत से लोग दुराचारों से बचे रहते हैं परंतु हमारे देश में मुख्यतः ईश्वर के भय और प्रेम के कारण लोग भले रहते थे, वे धर्म को ईश्वर और ईश्वर को धर्म मानते थे, अब यहाँ ईश्वर सम्बन्धी खयाल अनेक कारणों से कमजोर पड़ गया है और समाज-आतंक है नहीं इसलिये भी देश में लालच और दिखावा करने की इच्छा के दोष बढ़ गये हैं और Morality (नैतिक अवस्था) गिर गई है, नैतिक जीवनको सदाचारी जीवन कहा जाता है, आज-कल लोगों को धन का कष्ट अवश्य है परन्तु धन की वृद्धि सदाचार नहीं बढ़ा सकती और न पारस्परिक प्रेम बढ़ा सकती है। हमारे मिशन (श्री रामचन्द्र मिशन शाहजहानपुर यू० पी०) में सदा-चार के सम्बन्ध में दो नियम रखे गये हैं, नियम नं० ६ और नियम नं० ९।

नियम नं० ६ निम्न हैं—

'कुल जगत को अपना भाई समझे और सबके साथ ऐसा ही व्यवहार करे'।

पूज्य गुरुदेव ने मिशन के दसो नियमों को अपनी किताब से जिसका शुभ नाम 'दस उसूलों [नियमों] की शरह' [व्याख्या] है समझाया है, इस नियम नं०६ को समझाते हुए उन्ह निम्न लिखा है—

'जो चीज अपनी असल [परमात्मा] से आई हुई है उसको ऐसा ही समझे गोया [मानों] एक मम्बे [खानि] से सब रवाँ [जारी] है'.....

सब की निसबत [सबका सम्बन्ध] उसी असल से रहती है, गैरियत [अन्य होना] का ताल्लुक [सम्बन्ध] वाकई [वास्तव में] नहीं है, यह अपना पसारा है कि यार [मित्र] आगयार [भिन्न, अन्य] मालूम होते हैं, यह सब अपनी ही खुदगर्जी [स्वार्थ-परता] की हालत है जो सब में पैवस्त [समा] होकर उन सबको गैर [अन्य] तसव्वुर करा देती है (अर्थात् हम उन सब को अन्य समझने लगते हैं) इस चीज को तोड़ने की जरूरत है इसलिये कि असल बिरादराना [सच्चे भाय्यों का] ताल्लुक [सम्बन्ध] महसूस होने लगे [अर्थात् अनुभव में आने लगे]।

नियम नं० ९ निम्न हैं—

'अपना रहन-सहन और व्यवहार ऐस उम्दा [अच्छा] बना ले जिसको देखने से लोगों में नेक खयाली का अहसास हो [अर्थात् लोग उसको एक नेक यानी सज्जन अथवा साधु पुरुष समझें] और लोग उससे मोहब्बत [प्रेम] करने लगें'।

आपने उक्त ग्रंथ में इस नियम पर टिप्पणी करते हुई उन्होंने निम्न लिखा है—

'ईश्वर के व्यवहार में यकसनियत [एकसा होना] भी है मगर [परन्तु] एक मानों [अर्थ] में, मसलन् [जैसे] वह सबको बराबर रोशनी देता है, सबके साँस लेने के लिये उसने हवा पैदा की.....अब दूसरी चीज आती है जो उसके पास बन बन कर पहुंचती रहती है उसके साथ बरताव और तरह का होता है, जाहिर [स्पष्ट] है कि मट्टी से बनी हुई चीज जब सामने आती है तो इन्सान [मनुष्य] के नजर [दृष्टि] उस पर और तरह की पड़ने लगती है, मट्टी से जब हम खिलौना बनाते हैं तो एक गूना [तरह] हमारी रगवत [आकर्षण] व मुकाबले [अपेक्षाकृत] मट्टी के उससे जियादा [अधिक] हो जाती है, इस तरह से जब इन्सान बना बनाया उसके सामने पहुँचता है तो उसकी निगाह [नजर, दृष्टि] कुछ और ही हो जाती है.... रोजाना की [दैनिक] जिन्दगी में जो हमारे सामने है हम ऐसे ही व्यवहार अदा करें [दें या करें] जो उसने [ईश्वर ने] हमारे साथ किये हैं और कह रहा है.. जहाँ पर जैसी जरूरत [आवश्यकता] हो वैसा ही हम व्यवहार अदा करें [व्यवहार करें], जब इस काम को हम-अहंगी [एकत्व] कुदरत [प्रकृति या ईश्वरी शक्ति जो ईश्वर का सब काम करती है] से हो जावेगो तो उसमें असर (प्रभाव) पैदा हो जावेगा जिसका नतीजा (परिणाम) यह होगा कि लोगों का खिचाव हमारी तरफ (ओर) होने लगेगा ..... इसी कोशिश (खिचाव) को मोहब्बत (प्रेम) कहते हैं, जब दूसरों का हक आपके मद्दनजर (ध्यान में) होगा तो दूसरे लोग इस ताकत (शक्ति) के जेर असर (प्रभावित) होकर जो आपमें हम-आहंगी (ईश्वरी शक्ति से एकत्व या सम्मिलित हो जाना) पैदा होने से हुई है आपसे भी वही बरताव रखेंगे जिसके आप एहेल (अधिकारी) हैं।

भारतवर्ष के पुराने ऋषियों का नियम था 'वसुधैव कुटुम्बकम्' यानी यह कि 'पूरा ही जगत मेरा कुटुम्बी है' यही नियम हमारा उपरोक्त नियम नं० ६ है, केवल भाषा-भेद है, इस नियम की टिप्पणी में श्री प्रधान जी 'गुरु महाराज' ने यह भी समझा दिया है कि मानव दूसरे को दूसरा क्यों समझने और मानने लगा, वास्तव में समस्त संसार के निवासी भाई और भगिनियाँ [बहिनें] ही हैं, विवाहिता स्त्री की बात और है।

नियम नं० ९ की टिप्पणी में उन्होंने हम सबको और जगत् को उपदेश दिया है कि हम सबको संसार में ऐसा ही व्यवहार करना चाहिये जैसा कि ईश्वर हम सबके साथ करता है, ईश्वर का एक प्रकार का व्यवहार

आत्म-समर्पण

[कुमारी कस्तूरीजी]

कहते हैं 'गागर में सागर' भरा किसने देखा? बात ठीक है। भला गागर में सागर? विचित्र बात है किन्तु मुझे कहना यही पड़ता है कि बात विचित्र होते हुये भी यथार्थ है। लय अवस्था प्राप्त होने पर हमें इसका स्वतः प्रमाण भी सिद्ध हो जाता है। लय-अवस्था आत्म-समर्पण का परिणाम है किन्तु इसका सम्बन्ध देखने अथवा अनुभव से ही सम्बन्धित है, और हो सकता है। जहाँ तक मेरी अंतर्दृष्टि गई तो पाया यही कि श्रवनी और कथनी से रहनी भिन्न वस्तु है। फिर आत्म-समर्पण? यह तो एक अनोखी गति है। उसका अपना एक अनोखा ही क्षेत्र है, जिसमें क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ एक ही हो रहते हैं। एक विचित्र साम्य सी गति है, एक भोली सी सरल, निर्मल गति है। संभवतयः इसीलिये वह साधक को ऐसी ही मति द्वारा, एक हल्की, फुल्की निर्दोष स्थिति पर पग रखते ही स्वतः ही प्रारम्भ हो जाती है। मैं तो यही कहूँगी कि यह अवस्था (आत्म-समर्पण) प्राप्त करना हमारे, अपने ही हाथ, पैर का काम है। फिर भाई इतना सा तो साधक का कर्तव्य भी हो जाता है। यद्यपि 'श्री बाबूजी' (श्रीरामचन्द्र मिशन के प्रधानाचार्य) जी ने तो, जैसा कि प्रथम 'सहज-मार्ग' अंक में 'उनके' लेख में निकल भी चुका है; उन्होंने प्रेम उत्पन्न करने का उपाय भी बता दिया है तथा श्रीरामचन्द्र मिशन में मैंने प्राण-आहुति (Transmission) द्वारा ऐसी ऐसी दुर्लभ गतियाँ भी अनुभव-गम्य ही पाईं तथापि मैंने तो यही पाया कि अपने इष्ट में श्रद्धा और विश्वास से आकर्षण उत्पन्न होता है। इसी चीज के थोड़ा आगे बढ़ने पर प्रेम की उत्पत्ति होती है तथा प्रेम उत्पन्न होते ही समर्पण स्वयं ही प्रारम्भ हो जाता है।

प्रेम में समर्पण या Self Surrender का ही विशेष महत्व रखा गया है एवं साधक की साधना भी तभी सफल हो सकती है जब वह मर मिटने के लिये तत्पर हो रहता है। समर्पण के अर्थ हैं कि अपने आपको अपने इष्ट के हवाले कर दे तथा जो कुछ भी हम अपना समझते हैं उसे बराबर उसके अर्पित करते चलें। इसलिए वास्तव में यदि हम ईश्वर-प्राप्ति करना चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य है कि हमारा एक ही लक्ष्य हो और हम अपनी दृष्टि को उसीमें गड़ा दें। फिर तो भाई मैंने देखा कि ऐसी गति हो जाती है कि :—

'मन थिर चित थिर सुरत थिर,
थिर भया सकल शरीर।
ताके पीछे हरि कहें कबोर कबोर'

सबके साथ साधारण होता है, जैसे सबको प्रकाश तथा हवा इत्यादि देना और उसका दूसरे प्रकार का व्यवहार योग्यता देखकर होता है, यदि ऐसा न हो तो अन्याय हो जाय, यह होते हुये भी उसमें गैरियत नहीं है।

अन्त में इस सेवक की विनम्र प्रार्थना है कि पाठक-गण [पढ़ने वाले सज्जन] अपने हृदय से ममता और गैरियत को निकाल कर इन दोनों नियमों के अनुयायी [थोड़ी देर को ही सही] बन कर उस स्थिति को खयाल में लावें जो इन नियमों के हृदयङ्गम करने से पैदा होती है तो उनको आध्यात्मिक जीवन की झलक का अनुभव हो जायेगा और यदि इस स्थिति में कहीं प्रेम मिला दें क्योंकि ईश्वर 'स रस रूपः' अर्थात् प्रेम का स्वरूप है तो मजा आ जायगा।

फिर एक दिन ऐसा हो जाएगा कि न हमें दृष्टि की चिन्ता है और न लक्ष्य का होश। फिर तो लक्ष्य ही हमारी दृष्टि है और वही हमारी चेतना और लक्ष्य ही हमारा लक्ष्य है। फिर ऐसे अभ्यासी की स्थिति क्या होती है? स्वतन्त्र और निरंकुश। उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं होता। वे बन में अथवा श्मशान में सुख की नींद सोते हैं। भाई लय-अवस्था की महत्ता कहाँ तक कही जावे। इसमें जरा सा भी पैरने पर अभ्यासी की क्या दशा हो जाती है और वह क्या सोचता है, एक श्लोक स्मरण हो आया :—

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीन मिदं जगत,
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम।'

वह संसार कहाँ चला गया? उसे कौन ले गया? यह कहाँ तक लीन हो गया? अहो बड़ा आश्चर्य है, जिस संसार को मैं अभी देख रहा था वह कहीं दिखाई नहीं देता। परन्तु फिर भी अभी समर्पण होते हुये भी आत्म अथवा पूर्ण समर्पण नहीं हुआ। जहाँ तक मेरी तुच्छ बुद्धि है 'आत्म-अमर्पण' के अर्थ हैं अपनी आत्मा तक को 'इष्ट' के अर्पण ही नहीं वरन् उसमें लीन करके स्वयं बेसुध और बेखुद हो जाना। या दूसरे शब्दों में यों कह लीजिये कि तन, मन और अपनी आत्मा सहित अपने 'मालिक' में लय हो जाना। मुझे स्मरण है कि हमारे 'श्री बाबूजी' ने एक बार मुझे लिखा था कि 'बिटिया, तुम्हारी इतनी अच्छी दशा होते हुये भी हमारी मंजिल को देखते हुये अभी दिल्ली बहुत दूर है।' किन्तु उसके आगे 'आपने' कितने सुन्दर एवं प्रोत्साहन पूर्ण वाक्यों में लिखा था कि फिर भी हमें अपने 'लालजी साहब' (समर्थ महात्मा रामचंद्र जो महाराज फतेहगढ़) की जात पर हमेशा उम्मीद रखना चाहिये। वह जो चाहें सो कर सकते हैं और हमारे मिशन में सब उन्हीं की देन है और उन्हीं की ताकत काम कर रही है। वास्तव में यह आत्म-समर्पण का उपदेश है और यह उन्हीं का प्रोत्साहन है जो मुझे सदैव ऊँचे उठने में, मेरी उन्नति में नवजीवन डाल कर मेरे मार्ग में मुझे प्रकाश प्रदान करता है। किसी ने कहा है कि 'जपात् शतगुनं ध्यानं ध्यानात् शतगुनं लयं।' अर्थात् जप से सौगुना लाभ है ध्यान का, ध्यान से सौगुना लाभ है उसमें लय हो जाने का अथवा आत्म-समर्पण हो जाने का। यों तो आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्म-समर्पण का ही विस्तृत क्षेत्र है, तथापि इसका प्रारम्भ कब होता है हमारे अंदर? जब बहुत कुछ नाता हम बाह्य-वस्तुओं से तोड़कर अंतर में जोड़ लेते हैं अथवा यों कहिये कि जब हम अपने 'इष्ट' में लय होना प्रारम्भ करते हैं। प्रेम करते-करते जब हम तद्रूप ही होने लग जाते हैं। शायर 'वजहन' के शब्दों में यों कह लीजिये कि :—

जब तक तन नाहीं गलत, मन नाहीं मर जात।
'वजहन' सूरत श्याम की सपनेहुँ नाहिं दिखात॥

वास्तव में भाई हम मर कर ही जीते हैं। अपने प्रेम एवं दृढ़ विचार द्वारा कर्म की डोर को 'स्वामी' से सम्बद्ध कर देते हैं और तभी इसमें उन्नति व दृढ़ता बढ़ते-बढ़ते हम ऐसा कर सकने में सफल हो जाते हैं। तब यह सब कुछ मेरे 'मालिक' की इच्छा से, जैसा 'वह' चाहता है होता है। यह बात उसके हृदय में घर कर जाती है। अथवा यों कहिये कि प्रेम की गलन मन को भी गलाने लगती है तथा गल-गलकर वह भी प्रियतम प्रभू में समाता चला जाता है। मुझे भली प्रकार स्मरण है कि एक बार मैंने अपने 'श्री बाबूजी' (मिशन के प्रधानाचार्य) को लिखा था कि "अब तो अपने शरीर की अनुभूति प्रायः समाप्त हो गई है।" तो आपने उत्तर में लिखा कि "बिटिया यह बहुत अच्छी हालत है। इसको लय-अवस्था कहते हैं। फारसी में इसको फना होना कहते हैं और यही आत्म-समर्पण के क्षेत्र में पैरने लग जाने का प्रारम्भ है।" अर्थात् प्रथम तो वाह्य-वृत्तियाँ अंतर्मुखी अथवा लीन हो रहती है पुनः अन्तर्वृत्तियाँ लय अथवा समर्पित

होने लगती हैं। मन का जन्म जन्मातरों का बोझ उतरता चला जाता है और वह हल्का होता चला जाता है। फिर अभ्यासी की क्या दशा हो जाती है? कि ऐसा लगता है मानों अन्तर की सम्पूर्ण वृत्तियाँ शान्त एवं लीन (ध्यानावस्था या समाधि अवस्था में) होती चली जाती है, किन्तु वृत्तियों के लीन रहते हुए भी वह जागता रहता है क्योंकि 'स्वामी' को इसे और आगे ले जाना है। यद्यपि उसका चित्त सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों का बाध करके निरन्तर अपने लक्ष्य में लीन रहता है तथापि वह सोये हुए पुरुष के समान संज्ञा नहीं हो जाता। सब व्यवहार अपने 'प्रियतम प्रभू' के स्मरण में लयलीन रहते हुए भी यथावत् करता है किन्तु व्यवहार करते हुए भी उसे अन्य पुरुषों के समान किसी पदार्थ में आस्था नहीं होती। श्रीकृष्ण भगवान की वाणी में यों कह लीजिये कि :—

'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'

अर्थात् सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण आ जा, मैं तेरे सब पापों को नष्ट करके मोक्ष प्रदान करूँगा। इसलिए वास्तव में यदि हम आध्यात्मिकता चाहते हैं तो समस्त कामनाओं को तथा मन की समस्त शक्तियों को एक सूत्र में गूँथ कर अपने इष्ट पर चढ़ा कर प्रचंड-गति से अग्रसर हो जायें।

प्रिय बान्धवो फिर भी मैं कहती हूँ कि यह सब बिना योग्य शिक्षक के सत्संग के असम्भव है। सम्भालने वाले की तो हमें (साधकों को) पग पग पर आवश्यकता होती है और आगे चलकर तो हम वास्तव में 'उसी' के कर-कमलों की कठपुतली ही हो जाते हैं जब कि अपने हाथ, पैर बेकाम हो रहते हैं। किन्तु सम्भालनेवाला भी ऐसा कि जिसमें अपने बालक की मनो-स्थिति को पढ़कर उसे अपनी पावन-प्राण शक्ति (Transmission Power) द्वारा सम्मेलन की पूर्ण सामर्थ्य हो। क्योंकि मैंने देखा है कि एक दिन आया कि मैं इतनी बावली थी, दीवानी थी, हाय हाय चिल्लाती बन्द कमरे में इधर उधर घूमती थी। 'बाबू जी' 'बाबू जी' पुकारती थी ईश्वर ईश्वर चिल्लाती थी किन्तु इस मतवाली बेहोशी में मैंने निरंतर अपने 'श्री बाबू जी' को अपने को होश में लाते हुए अनुभव किया है। उन्होंने मुझे हाथ से बेहाथ नहीं होने दिया। मैंने रात्रि को उसी दिवस पत्र में अपनी यह सब दशा लिख दीं किन्तु उसी दिवस के लिखे गए उन 'प्रभुवर' के पत्र का संक्षिप्त सा भाग मैं लिख रही हूं। वे लिखते हैं कि "बिटिया अवधूत-गोत में साधक का मेरे सामने रहना अच्छा है किन्तु फिर भी कोई बात नहीं है। गुरु-महाराज ने तुम्हारी देखभाल का जिम्मा अपने ऊपर ले लिया है। जब तुम्हारी हालत काबू से बाहर होने लगे तो कोच के सामने बैठ लेना। वैसे जहाँ तक ख्याल है काबू से बाहर तो हालत नहीं जाने पाएगी"। और ऐसा ही हुआ। प्रिय बान्धवों फिर आप बताइये कि समक्ष देखते हुए दृष्टि अन्धी कैसे बनी रहे, और लेखनी मौन क्योंकर पड़ी रहे। असम्भव है। यद्यपि मुझे नहीं पता कि आत्म-समर्पण किसे कहते हैं, कैसे होता है और क्यों हो जाता है? तथापि मैं देख रही हूँ कि मेरी लेखनी के नेत्र हैं। वह कुछ देख रही है और वह यह है कि मेरे शरीर का कण कण नेत्र ही नेत्र बन गया है। साधना की प्रथम सीढ़ी से लेकर अब तक मेरे अन्तस्तल से केवल एक ही ध्वनि गुंजरित होती रहती है कि :—

'कागा सब तन खाइयो, चुनि-चुनि खइयो माँस।
दो नयना मत खाइयो, 'पिया' मिलन की आस॥'

सहज मार्ग के अन्तर्गत ब्रह्म-विद्या में प्रेम और भक्ति

[कुमारी 'सन्ध्या']

प्रेम और भक्ति मानव-जीवन का सार है, और जहाँ तक मेरा अनुभव है तो उस सार का अर्थ है 'जीवन में मृत्यु और मृत्यु में जीवन'। यद्यपि ऐसा एक दिन फिर आता अवश्य है जबकि मृत्यु की भी मृत्यु हो जाती है। किन्तु इस मरण के लिए प्रथम हमें कब्र में पैर डालना होता है। मृत्यु के पश्चात तो प्रत्येक को ही चिता मिलती ही है परन्तु ईश्वर-प्रेम में बेसुध प्रेमी व भक्त उस जलती हुई प्रेमाग्नि रूपी चिंता का प्रथम ही आलिङ्गन करते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप उनकी कान्ति तपाए हुए स्वर्ण के सदृश उत्तरोत्तर बढ़ती और पावन होती चली जाती है। इस कान्ति से मेरा आशय स्थूल कान्ति से कदापि नहीं है वरन् उनके अंतर का अंग अंग एवं कण कण ईश्वरीय ज्योति से जगमगा उठता है। उनके निकट के वातावरण में उनकी अपनी ही सुगन्ध व्याप्त रहती है। उनके मन विचार एवं इन्द्रियों तक की सांसारिक-विषयाग्नि का उस चिता पर हवन हो जाता है और ढलते ढलते वह एक सुदृढ़ संत के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। मैंने देखा है कि जिज्ञासुओं का तो अन्त नहीं है किन्तु 'दीपक' पर शलभ की भाँति न्यौछावर होने का साहस रखनेवाले बहुत कम होते हैं और ब्रह्म-विद्या का वास्तविक-स्वरूप एवं अर्थ यही है।

वैसे तो ब्रह्म-विद्या सबसे बड़ा विज्ञान है तथा सबसे गंभीर विद्या है कि जिसमें कोई चाहे जितने मोती चुगता जावे। प्राचीन काल में हमारे पूर्वज ऋषि महात्माओं ने इसी के द्वारा ईश्वर का ज्ञान प्राप्त किया था। उस समय दृष्टि सूक्ष्म होती थी क्योंकि सत् का आधिक्य था और सत् था तो चित व आनन्द तीनों ही उन्हें प्राप्त थे इस कारण दृष्टि स्वाभाविक ही सत्य पथ की ओर जाती थी परन्तु ज्यों ज्यों हम सत्य से दूर होते गये, दृष्टि भी स्थूल पड़ती गई, यहाँ तक कि ब्रह्म-विद्या जो सत्य विद्या थी उसे भूलकर नवीन तारों का जाल बुनकर उसे और ढाँकते गए। भक्ति तमाम शाखाओं में बाँट दी गई और हमारी दशा वैसी हो गई कि एक ही जल हजार फुहारों में होकर बहने लगा। खैर "होनी थी सो बित गई, आगे को सुधि लेय"। किन्तु इस विद्या को नवीन रीति से सँवार कर, सहज-मार्ग में ढालकर साधक को साधना को शीघ्र ही सफल बनाने का श्रेय समर्थ सद्गुरु श्री रामचन्द्रजी महाराज (फतेहगढ़ निवासी) को ही है।

प्रिय बान्धवों; सहज शब्द एक अविगत-गीत का द्योतक है। जब हमारे विचार में 'सहज' शब्द आता है तो स्वभावतः एक क्षण को ही हमारी विचार-शक्ति द्वारा हमारा मन एक ऐसी सरल एवं नम्र अवस्था से सम्बन्धित हो जाता है जिसको गति वाणी के परे है। वास्तव में मानव-मात्र की सत्ता वही सहज, साम्य-अवस्था है जिसके एक क्षण को ही सही कभी न कभी अनजाने ही हमें उसका अभास मिल जाता है। किन्तु जब हम सदगुरु की कृपा से आत्मोन्नति करते करते उस अवस्था से सम्बन्धित ही नहीं वरन् वह तो हमारी रहनी का स्थान ही बन जाता है तब सद्गुरु या शिक्षक अपनी पावन प्राण शक्ति द्वारा साधक के मन व सुरत का सम्बन्ध उस सहज-गति से भी परे को खींच देता है और तब उसकी विचार-सरनी एक नवीन वातावरण में पैरने लगती है अथवा यों कहिये कि तब साधक के पग ब्रह्मावस्था के क्षेत्र में बढ़ने लगते हैं और वास्तविक ब्रह्म-विद्या का ज्ञान हमें

तभी से प्राप्त होना आरम्भ होता है जब कि उस क्षेत्र में हम पग रख देते हैं। साधक अपना परिश्रम यहाँ आकर बिना सद्गुरु की पावन प्राण-शक्ति द्वारा असफल हो जाता है इसी लिए कहा है कि "विन गुरु भवनिधि तरइ न कोई"।

अब लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि आखिर हम यहाँ तक पहुँचे कैसे और यहाँ तक पहुँचते न पहुँचते किन किन अमूल्य आत्मिक-गतियों व आनन्द से हमारा साक्षात्कार होता चलता है। सो भाई जहाँ तक इस विषय में मेरे परम पूज्य श्रीरामचन्द्र हैं तो मैंने यही देखा है कि प्रेम जब निष्ठा तक पहुँच जाता है तो भक्ति में परिणत हो जाता है। सम्भव है कि इसका भाव यों और स्पष्ट हो सके कि जैसे आपने बन्दूक में गोली भरी तो उस गोली को प्रेम मान लोजिये, फिर मारने पर गोली जाकर भिद गई बस उसी अनुभूति को भक्ति समझ लीजिये। कबीर जी के शब्दों में यों कह लीजिये कि 'सद्गुरु लई कमान कर, बाँहण लागा तीर, एक जू छूटा प्रीति सों बेध्यो सकल शरीर' किन्तु भाई मैं तो केवल इतना कहना ही पर्याप्त समझती हूँ कि 'यदि मस्तिष्क प्रेम है तो हृदय भक्ति है'। अब जरा मतवाली मीरा जी के शब्दों में हम इसका रसास्वादन कर लें। उनकी सुमधुर वाणी में हम इन दशाओं का रस-पान तो कर लें। प्रेम में बेसुध मीरा जी कह उठती हैं :—

'राणा मैं तो गिरधर के घर जाऊँ'।

उनका एक एक शब्द रस से सराबोर है। एक एक शब्द प्रेम से परिपूर्ण है। उनकी निष्ठा ने इस दूसरे पद में कितना यथार्थ रूप ले लिया है कि—

'तेरा कोई नहिं रोकन हार मगन होय मीरा चली'।

चलनेवाले को भी क्या आज तक कोई रोक सका है फिर मग्न होकर चलनेवाले को। रंचक और प्रवेश करें और देखें कि उनकी वह सुदृढ़ निष्ठा आगे चलकर भक्ति रूपी अनमोल रत्न बन गई। जब वे कहती हैं कि :—

'मेरी उनकी प्रीति पुरानी उन बिन पल न रहाऊँ'।

इस स्थल पर आकर उनकी वीणा के तार भी मौन हो जाते हैं और शब्दों में भक्ति की ध्वनि के साथ वे भी शब्द बन जाते हैं। दृष्टि आगे उठती है तो क्या दिखाई देता है कि अब भक्ति का झंकार भी लय होने लगी है। उनके इस पद ने तो मानो लय-अवस्था को सजीवता ही प्रदान कर दी है कि:—

जहाँ बैठारे तित ही बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ॥

ब्रह्म-विद्या में प्रेम और भक्ति का ऐसा ही सुन्दर समन्वय है। भक्ति की प्रगाढ़ अवस्था व अपने इष्ट के ध्यान में लय रहते रहते साधक की भक्ति लय-अवस्था में परिणत हो जाती है। सम्भव है इसी कारण ब्रह्म विद्या को सब विद्याओं से श्रेष्ठ माना गया है और जहाँ तक मेरा अनुभव है यह बात स्वतः सिद्ध भी है क्योंकि यदि साधक एक सच्चे ब्रह्म-स्थित योगेश्वर की शरण है तो निश्चय है कि एक दिन वह अवश्य आयेगा कि साधक किसी शाह से कम न होगा। परन्तु शाह भी कैसा कि जिसे अपनी शाही का गुमान तक नहीं। जिसे अपने राजत्व का होश नहीं और जिसे अपना कोष लुटने या खाली होने का भय नहीं क्योंकि भाई चाँदी के टुकड़ों और सरकारी मोहर से छपे कागजों को लूटनेवालों की तो गिनती नहीं किन्तु एक ब्रह्म-योगी के गुह्य-कोष को लूटने का निश्चय करनेवाला कोई बिरला ही पैदा होता है।

प्रिय बान्धवों, मैंने श्रीरामचन्द्र मिशन के प्रधानाचार्य जी को बहुधा यह कहते सुना है और उन्होंने मुझे लिखा भी था कि "बिटिया, Negation के कमाल की हालत पर जब अभ्यासी पहुँचे तो सच पूछो आनन्द इसके बाद की तालीम में इतना आवेगा कि

मेरे पास वह शब्द नहीं कि मैं बयान कर सकूँ। और आनन्द भी क्या? बस यही कि एक व्यक्ति ऐसा मिला तो कि जो गुरु-महाराज की रखी हुई अमानत बँटानेवाला हुआ। यह है ब्रह्म-निष्ठ योगो की भावना और सहज-मार्ग में साधक की प्रेम-पराकाष्ठा।

किन्तु जब हम ऐसे सद्गुण की शरण में जिसमें अपने बालक या शिष्य की मनो-स्थिति पढ़कर उसे Transmission (प्राणाहुति) शक्ति द्वारा संभालनेकी पूर्ण सामर्थ्य है। फिर देखिये कि ईश्वर अपने खजाने में से हमको क्या न देगा। वह दोनों हाथों से अपना खजाना लुटा देगा और उपरोक्त मणि-मुक्तायें हमको प्रदान कर देगा। फिर क्या होगा? आप होंगे शाह और वह होगा फकीर। मुझे याद है कि एक बार यह लिखने पर कि कुछ आजकल ऐसी बादशाही दशा चल रही है कि "ऐसा लगता है कि सूरज और चन्द्रमा मैंने ही बनाये हैं। ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड मेरे ही दिल में समाया हुआ है।" इस पर श्री बाबू जी ने लिखा था कि "भाई यह सब ईश्वरीय-दशा है। यह साधक की राजसी दशा है।"

भाई जिस प्रकार पक्षी को उड़ने के लिये तीन वस्तुओं की आवश्यकता होती है। प्रथम तो उड़ने का ज्ञान, दूसरा पंख और तीसरा Balance बराबर रखने लिये पूँछ। उड़ने का ज्ञान उसे कहाँ से मिलता है? माँ से। पंख और पूँछ ईश्वर की कृपा से। इसी प्रकार हमें अभ्यास में भी तीन वस्तुओं को अत्यंत आवश्यकता होती है। प्रथम तो ज्ञान जो हमको सद्-गुरु रूपी माता से मिलता है। फिर हमारे पास एक पंख तो प्रेम एवं दूसरा भक्तिका हो। तीसरे Balance सम रखने के लिये चाहिये उपरोक्त साधना के परिणाम-स्वरूप साम्य-गति जिससे हम ब्रह्म-विद्या के विस्तृत क्षेत्र में स्वच्छन्द विचरण कर सकें।

प्रिय बान्धवों आज हम जाग उठें। कैसे? उठें जैसे भेरी का शब्द सुनकर वीर जाग उठते हैं। उठें जैसे निषंग की टंकार सुनकर मृग चौंक उठते हैं। उठें जैसे पूर्णचन्द्र को देखकर समुद्र की लहरों में ज्वार-भाटा उठने लगता है। व्यर्थ के अभिमान में टोड़ी की तरह पैर ऊपर कर सोने से हम आत्मोन्नति में भला कैसे सफल हो सकते हैं? म्रियमाण-वत् होकर रहना सभी जानते हैं किन्तु अमृत पान कर मृत्यु पाना किन्हीं को ही प्राप्त होता है। कबीरदास जी ने कितना सुन्दर लिखा है —

'मैं तोहे बूझौं हे सखी, जीवत क्यों न मराय।
मूआ पीछे सत करै, जीवत क्यों न कराय॥

प्रेम के महत्व का एक छोटा सा दृष्टान्त देकर मैं अब लेख को समाप्त करती हूँ। अकबर इलाहाबादी के पास एक सुशिक्षित सज्जन अपनी कविता संशोधन के लिये लाये। अकबर साहब ने उसमें से एक कविता पढ़ी और पूछा—"हजरत आपने कभी किसी से मोहब्बत की है?"

"तोबाह!" उन्होंने कहा-"इन फजीलों से मैं बराबर दूर रहा हूँ।"

"कभी किसी बेबस गरीब को देखकर आपका दिल भर आता है?"

"अल्लाह का शुक्र है, मेरे मिलनेवाले व दोस्त तंगदस्त नहीं हैं।"

"किसी की याद में आप बेचैन होकर कभी रोये भी नहीं?"

"कभी नहीं"।

अकबर साहब ने उनकी कविताएँ वापस करते हुये यह शेर पढ़ा :—

'इश्क (प्रेम) को दिल में दे जगह अकबर,
इल्म से शायरी नहीं आती'।

और कबीर जी ने कितना सुन्दर कहा है :—

प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
अजबहिं सौदा प्रेम का, जो सिर दै, लै जाय॥

एक सन्त की वाणी

माया रची तू आप ही है, है आप ही तू फँस गया,
कैसा महा आश्चर्य है, तू भूल अपने को गया।
संसार-सागर डूब कर, गोते पड़ा है खा रहा,
अज्ञान से भव-सिन्धु में, बहता चला है जा रहा।

माया नटी के जाल में, फँस हो गया कंगाल तू,
दर-दर फिरे है भटकता, जग सेठ मालामाल तू।
तू कर्म बेड़ी में बँधा, जन्मे पुनः मर जाय है,
ऊँचा चढ़े है स्वर्ग में, फिर नर्क में गिर जाय है।

जो धैर्य नहीं हैं धारते, भय देख घबरा जाय हैं,
सब कार्य उनका व्यर्थ है, नहिं सिद्धि वे नर पाय हैं
चिन्ता कभी मिटती नहीं, नहिं दुःख उनका जाय है,
पाते नहीं सुख लेश भी, नहिं शांति मुख दिखलाय है

गर्मी न थोड़ी सह सकें, सर्दी सही नहिं जाय है,
नहिं सह सकें हैं शब्द यक,चढ़ क्रोध उनपर जाय है
जिसमें नहीं होती क्षमा, नहिं शान्ति सो नर पाय है
शुचि शान्त मन सन्तुष्ट हो, सो नर सुखी हो जाय हैं

मर्जी करेगा दूसरों की, सुख नहीं तू जायगा,
नहिं चित्त होगा थिर कभी, विक्षिप्त तू हो जायगा।
संसार तेरा घर नहिं, दो-चार दिन रहना यहाँ,
कर याद अपने राज्य की, स्वराज्य निष्कंटक जहाँ।

सदगुरु कृपा गुण-युक्त का, उठ प्रात ही धर ध्यान रे
निज देह से अरु प्राण से, प्यारा अधिकतर मान रे।
सिर को झुका कर दंडवत् कर नमन आठों अंग से,
कल्याण सब का चाह मन से, दूर रह जन संग से।

सच्चे हृदय की प्रार्थना, निश्चय सुने जग-वास है,
नहिं भक्त से है दूर वह, रहता सदा ही पास है।
ज्यों-ज्यों करेगा प्रार्थना, भय दूर होता जायगा,
कर प्रार्थना, कर प्रार्थना, कर प्रार्थना सुख पायेगा।

प्रभु, आप की हूँ मैं शरण, निज चरण-सेवक कीजिये
मैं कुछ नहीं हूँ माँगता, जो आप चाहे दीजिये।
सिर आँख से मंजूर है, सुख दीजिये, दुख दीजिये
जो होय इच्छा कीजिये, मत दूर दर से कीजिये

हैं आप ही तो सर्व, कैसे करूँ मैं फिर प्रार्थना,
सब कुछ करे हैं आप ही, क्या बोलना क्या चालना
फिर बोलना किस भाँति हो, है मौन ही सबसे भला
रक्षक तू ही भक्षक तू ही, तलवार तू तेरा गला।

मत जोर से तू हँस कभी, निन्दा पराई छोड़ दे।
ठट्ठा-हँसी मत कर कभी, झगड़ा-लड़ाई छोड़ दे।
मत मार्ग खोटे चल कभी, बे-अर्थ फिरना छोड़ दे,
मत पंच बन मत चौधरी, अन्याय करना छोड़ दे।

सीधा चला जा, इधर को या उधर को मत ताक रे,
खबरें वृथा मत पूछ, गप्पें भी वृथा मत हाँक रे।
मत दोष देखे अन्य के, मत कीर्ति अपनी भाख रे,
रह मग्न अपने-आप में, रस आत्म का ही चाख रे।

साधक, न इसको भूल तू तेरा नहीं यह देह है,
धन-धाम भी तेरा नहीं, तेरा नहीं यह गेह है।
फँस तू न माया-जाल में, तू दिव्य से भी दिव्य है,
मत बन्द काया माहिं हो, तेरा न यह कर्तव्य है।

नहिं हाड़ हूँ, नहिं माँस हूँ, मज्जा नहीं, नहिं रक्त हूँ,
नहिं मेद हूँ, नहिं नाड़ियाँ, नहिं वात हूँ, नहिं पित्त हूँ
मैं देह नहिं तिहुँ काल में, मेरा नहीं यह देह है,
मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, इसमें नहीं सन्देह है।

चखता नहीं, नहिं जीभ मैं, मुझमें नहीं है स्वाद भी,
नहिं सूँघता, नहिं नाक हूँ, नहिं गन्ध मुझमें गन्ध की
वक्ता न मैं, वाणी न मैं, मुझमें नहीं वक्तव्य है,
मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूं, यह वाक्य ही मन्तव्य है।

पकड़ूँ नहीं, नहिं हाथ मैं, मुझको न कुछ भी ग्राह्य है,
चलता न मैं नहिं पैर हूँ, मेरी न कोई राह है।
नहिं मोद लूँ, न उपस्थ हूँ, मुझमें नहीं आनन्द हूँ,
मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, कहता यही श्रुति छन्द है।

ब्राह्मण न मेरा वर्ण है, षट् कर्म भी मैं ना करूँ,
क्षत्रिय नहीं जो दण्ड दूँ, या युद्ध में जा कर लड़ूँ।
मैं वैश्य व्यापारी नहीं, नहिं शूद्र, मैं मजदूर हूँ;
मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, सर्वत्र ही भरपूर हूँ।

मैं ब्रह्मचारी हूँ नहीं, जो पाठ वेदों का करूँ,
मैं नहिं गृही जो घर बसाऊँ, या अतिथि-सेवा करूँ।
नहिं हूँ वनी जो तप करूँ, नहिं मैं यति जो दूँ अभय
मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, सत् चित् तथा आनन्दमय।

मानव तेरी मानवता

[श्री काशीराम अग्रवाल]

यह सभी जानते हैं एवं सत्य भी है, कि मानव जीवन बिना गुरु प्राप्ति के पशु जीवन तुल्य है ! बहुत से भाइयों का यह भी ख्याल है कि बिना गुरु की सहायता के स्वयं ही ऊँची चढ़ाइयों को पार कर सकते हैं। परन्तु यह ख्याल उस मोटर मालिक के ख्याल की तरह है जो कहे कि मैं बिना ड्राइवर (Driver) के स्वयं ही गाड़ी चला लूँगा, मुझे ड्राइवर की आवश्यकता नहीं। परन्तु चलते चलते जब मार्ग में गाड़ी खराब हो जाती है रुक जाती है, और उस मोटर मालिक को यह ज्ञान नहीं कि गाड़ी के रुकने का क्या कारण है, पेट्रोल समाप्त हो गया या पानी की कमी है या मशीनरी खराब हो गई। यह सब ज्ञान बेचारे को नहीं है। अब हाथ पर हाथ रखकर पछताने के सिवा क्या है, कोई साधन नहीं उपाय नहीं, मोटर मालिक के दुख का ठिकाना नहीं, मारे विचारों के मस्तक भिनभिनाने लगा, ड्राइवर की अब ऐसे मौके पर आवश्यकता पड़ी, मगर जंगल में अब कहाँ ड्राइवर बैठा है ? अब मोटर मालिक को मोटर लुट जाने का भय, अपने जीवन खत्म हो जाने का भय एवं भूख से पीड़ित एवं ठंड में कँपकँपी के मारे बेचारे का बेहाल है, अब समझ में आ गया कि बिना ड्राइवर के गाड़ी स्वयं चलाना खतरनाक है, और बिना ड्राइवर के गाड़ी बेकार। इसी प्रकार गुरु के बिना मानव जीवन निरर्थक है बेकार है पशु तुल्य जीवन है ! मानव जीवन रूपी झंझटों से मुक्त गाड़ी के लिए हमें सदगुरु रूपी ड्राइवर की शरण लेनी ही पड़ेगी। ड्राइवर को आराम नहीं, उसे बहुत बड़ी Duty (कर्त्तव्य) पालन करना पड़ता है बड़े बड़े कष्टों का सामना करना पड़ता है-हजारों यात्रियों की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेकर चलना पड़ता है थोड़ी असावधानी के कारण हजारों यात्रियों का जीवन बरबाद हो सकता है, इस लिए ड्राइवर बड़ी सावधानी से हर क्षण क्षण मार्ग को देखता हुआ सम्पूर्ण रात्रि भर जागरण करता हुआ गाड़ी को सुरक्षित पहुंचाने की चेष्टा रखता है। इसी प्रकार मानव अपने असली घर पहुँचने के लिए गुरु रूपी ड्राइवर की शरण लेकर अध्यात्मिकता रूपी गाड़ी में बैठ कर यात्रा आरम्भ कर देता है और सदगुरु अध्यात्मिकता क्षेत्रों की सैर करता हुआ कितने अलबेले मार्गों द्वारा कठिन से कठिन चढ़ाइयों को पार कराता हुआ दूर तक पहुँचा देता है जहां कि उसको जाना पड़ा है। मगर भाई अपने असली घर की याद आती ही किसको है अधिकतर भाइयों का जीवन विलासिता, चोरी-जारी, नाच गाने ऐश आराम में ही व्यतीत होता है एवं क्षण भंगुर नाशवान असत्य वस्तुओं में लुभाकर सर्व प्रिय सत्य वस्तु का परित्याग कर बैठे हैं, और असली घर को भूल बैठे हैं अगर हमारा एक लाल पैसा भी खो जाता तो उस पैसे की खोज के लिए प्रकाश का प्रबन्ध करते हैं एवं टॉर्चलाइट से एवं नाना प्रकार के साधनों द्वारा खोज करने लग जाते हैं। मगर भाई हमारा मानवजीवन का मूल्य उस एक लाल पैसे भी गया गुजरा है कि पैसे की खोज तो कर लेते हैं इस लिए कि उसकी कीमत १ पैसा है। मगर मानव जीवन की कीमत कुछ भी नहीं समझी इसी लिए उसकी खोज नहीं करते।

अफसोस है हम अपने जीवन का क्षण-क्षण व्यर्थ ही खोते जा रहे हैं, मिट्टी में ठोकरों में मिलाते जा रहे हैं, हमने कभी अपने अन्दर झाँक कर भी नहीं देखा कि हमारा अन्दर क्या हाल हो गया है। हमारे अन्दर कितनी गन्दगी भरी हुई है, नस-नस में रोम-रोम में पाप भरा हुआ है, कालिमा से लिपा हुआ है, हमारे

अन्दर कितने दूषित विचार भरे पड़े हैं, हमारी मनोवृत्ति पापाचार में किस प्रकार लगी हुई है। हममें क्षमा, शील, संतोष, दया, धर्म का अभाव हो गया, सद्गुणों की जगह अवगुणों को हृदय में बसा लिया, मन आधुनिक युग की चाल में चाल मिलाकर सदाचार का नाश कर चुका और हम सदाचार हीन होते जा रहे हैं। मगर मनु महाराज के यह शब्द भी हमें मनन करने चाहिये :—

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत॥

अर्थ—हम धर्म की रक्षा करेंगे, तो धर्म हमारी रक्षा करेगा, हम धर्म का नाश करेंगे तो धर्म हमारा नाश कर देगा। वर्तमान युग में धर्म का हम नाश कर रहे हैं और धर्म हमारा नाश कर रहा है। पापाचार की हद हो चुकी, पाप कहाँ तक समायेगा, हमारा दैनिक जीवन विलासिता भोग भोगने में ही जाता है, और आश्चर्य है कि हम अगर ७-१० मील दूरी पर भी नाच गाना होता हो तो सब आवश्यक कार्यों को छोड़कर सर्दी, गर्मी का ख्याल हटाकर तूफान की भाँति लाखों की संख्या में उस नाच-गाने के स्थल पर पहुँच जाते हैं एवं बड़ी जबर्दस्त भीड़ हो जाती है। मगर धर्म के नाम से हमें कितनी घृणा आने लगी एवं धर्म कितना बुरा लगने लगा कि अगर पड़ोस में ही कोई महापुरुष का सदुपदेश एवं सत्संग होता हो तो मारे घृणा के चद्दर तान कर सो जाते हैं एवं वह अमृत रूपी शब्दोंका हल्ला-गुल्ला उनके लिये विष बन जाता है! हमारी हर एक इन्द्रियाँ बुराइयों में लग गईं, मुख से गन्दी बातें, पर-निन्दा करने लग गए, कानों को बुरे शब्द मीठे लगने लगे, आँखें बुरी दृष्टि से देखने लग गईं, हाथों से परोपकार करना दूर रहा, केवल मार-पीट, लड़ाई-झगड़ों एवं छीना-झपटी में लग गए। इससे तो अच्छा होता हम नेत्रहीन हो जाते, कितनी कुदृष्टि से अपनी प्यारी माँ-बहनों को देखने लग गए। इससे बढ़कर घोर पापाचार और क्या हो सकता है। भाई को भाई मार कर खत्म कर देना चाहता है, द्वेषता, द्वन्द्वता में जीवन ढाल लिया है। आजकल का Business (व्यापार) कितना घृणित हम लोगों ने बना रखा है कि न खाने का ठीक, न सोने का, न रहने का, न हममें सदाचार है न प्रेम है, न दया-धर्म है, केवल पापाचार से धनोपार्जन करना ही जीवन का ध्येय बना लिया है, 'क्या यही है मानव तेरी मानवता।' अगर अपनी असली कमाई की तरफ भी देखोगे तो छाती पर हाथ रख कर हाय करके धड़ाम से बेहोश होकर गिर पड़ोगे। हमें पापाचार से उपार्जन की हुई कमाई बड़ी अच्छी लगती है, मान-प्रतिष्ठा सबको प्यारी लगती है, और यह जीवन भोग है इनमें लुभा कर प्रियतम को भूल जाते हैं, हमारे पास चाहे अरबों की सुख-सम्पत्ति क्यों न हो सभी विना ईश्वर-प्रेम के निरर्थक हैं। श्री कबीर जी ने क्या ही सुन्दर लिखा है—

अरब खरब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज्य।
विना भक्ति भगवान की, सभी नर्क का साज॥

अर्थ—चाहे हम अरबों, खरबों की सम्पत्ति के मालिक क्यों न हों, हमारा राज्य चाहे सूर्य उदय से अस्त जहाँ तक होता है वहाँ तक हो मगर बिना सद्गुरु भक्ति के सब नर्क के साज हैं साधन हैं।

हमारी पापाचार की दृष्टि कब शांत होगी, कुकर्मों की बढ़ती ज्वाला कब रुकेगी! हे सद्गुरु देव! तेरी इच्छा के बिना विश्व का कल्याण असम्भव है, 'तू' सुख शान्ति का साम्राज्य फैला दे! सबका भला कर! हमारे मिशन की दैनिक प्रार्थना कितने उच्च कोटि की है कि अगर ५ मिनट सोते समय बैठ कर सच्चे हृदय से गदगद होकर यह प्रार्थना करे तो यह हो ही नहीं सकता कि हमारी प्रार्थना की आवाज उसके कानों तक

न पहुँच पावे वह सब कुछ सुनता है श्री कबीर जी ने लिखा है—

मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारे,
क्या तेरा अल्ला बहरा है।
चिऊँटी के पग नेवर बाजे,
सो भी साहेब सुनता है॥

अर्थ—अरे तूँ मस्जिद पर खड़ा होकर चिल्लाता है तेरा ईश्वर बहरा नहीं है, चींटी जब चलती है तो उसके पैरों की आवाज तक उसे सुनाई पड़ती है, फिर हमारी सच्ची प्रार्थना वह क्यों न सुन सकेगा। वह हममें ही है, हम मालिक से पृथक नहीं हैं। अगर यह कहा जावे दूध में घृत नहीं है तो यह बिलकुल असत्य बात है, मगर कहनेवाले भाई का भी क्या दोष है जब कि बेचारे ने कभी दूध को मथ कर ही नहीं देखा कि दूध से घृत कैसे निकल आता है। बहुत से भई यह जरूर कह देते हैं कि ईश्वर हम में ही है, मगर उसको मथ कर साक्षात्कार कितनों ने देखने की कोशिश की है! बहुत से नास्तिक भाई ईश्वर को नहीं मानते, बहुत से आस्तिक भाई ईश्वर को मानते तो हैं, मगर खोजने की चेष्टा नहीं करते, फिर भला कैसे सत्य को पहचान सकते हैं। भाई मैं तो यही कहूँगा कि बिना सच्चा पथ-प्रदर्शन के सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता गुरु की शरण में जाना होगा और उसको सर्वस्व मान कर रोम रोम में उसको देखकर दिल में बसाना पड़ेगा तब कहीं हम अपना मार्ग तय कर सकते हैं अन्यथा असम्भव है।

आधुनिक युग में कितना सहज मार्ग है कि दैनिक कामोंमें एक तरफ सदगुरु का स्मरण एवं (Constant Remembrance) एवं याद भी लगातार बनी रहती है और दूसरी तरफ हम अपने व्यवसायिक कार्यों में उसी का सुस्मरण करते हुए लगे रहते हैं। इससे बढ़कर सहज मार्ग और क्या होगा। जब तक हमारे दूषित विचार दिल से अलग नहीं होंगे जब तक समता नहीं आ जाती तब तक हम में सद्गुणों का रंग भी नहीं आया और यह सब सुलभ जब होंगे कि जीवन का ध्येय खाना, पीना एवं पापाचार से धनोपार्जन करना एवं सो जाना ही नहीं समझ कर एक दो घन्टे मालिक की याद एवं स्मरण के लिए एवं सत्संग के लिए सत महापुरुषों की शरण में जाने के लिए कुछ समय न निकालोगे तो हमारा भविष्य अँधेरे में हैं।

सदाचार के लिए भी 'बाबूजी' महाराज बहुत जोर देते हैं एवं अपने मिशन की प्रार्थना जो केवल चार लाइनों की है जीवन को सफल बनाने के लिए बहुत उच्च कोटि की प्रार्थना सिद्ध हुई है। भाई जब अपने जीवन को व्यर्थ जाते देखकर एवं आन्तरिक आँखें खुल जाने पर ज्ञान हो जाता है तब उस अभ्यासी का क्या हाल होता है रो रो कर बेहाल हो जाता है प्रेमाश्रुओं का ठिकाना नहीं सारी रात्रि आँसू बहाने में ही बीत गई, सोना चाहता है मगर बेचैनी सोने नहीं देती, रात्रि भी उसकी दिन के समान ही हो जाती है न दिन का पता न रात्रि का। यह वही हाल है जो घायल की गति घायल जाने जिसका हाल मीरा माता जानती थी एवं या इस हालत को अभ्यासी जानता है! पर जिसको अध्यात्मिक घाव हो उसका दर्द वही जानें। पाठकों से मेरी प्रार्थना है कि यह न लेख है न कुछ है मेरी मनोभावना है जो लिख दी हैं। त्रुटियों के लिये क्षमा करें।

सहज मार्ग के दस नियम

१ प्रत्येक भाई प्रातः सूर्योदय से पूर्व उठे, और संध्योपासना नियमित समय पर, जहाँ तक हो सके, समाप्त कर ले। पूजा के लिए एक प्रथम स्थान और आसन नियत कर ले। यथाशक्ति एक ही आसन से बैठने की आदत डाले, और शारीरिक व मानसिक पवित्रता का अधिक ध्यान रखें।

२ पूजा प्रार्थना से आरम्भ की जावे। प्रार्थना आत्मिक उन्नति के लिए होनी चाहिए, और इस तरह पर की जावे कि हृदय प्रेम से भर आवे।

३ प्रत्येक भाई को चाहिए कि अपना ध्येय अवश्य निश्चित कर ले, और वह यह कि ईश्वर तक पहुँच कर उसमें अपनी लय अवस्था प्राप्त करके पूर्ण स्थिति प्राप्त कर ले, और जब तक यह बात प्राप्त न हो जावे चैन न आवे।

४ अपना जीवन साधारण बना लेवें, और वह ऐसा साधारण हो कि नेचर (आदि प्रकृति) से मिल-जुल जावे।

५ सच बोले और प्रत्येक कष्ट को ईश्वर की तरफ से अपनी भलाई के लिए समझे, और उसको धन्यवाद दे।

६ सारे जगत को अपना भाई समझे, और सब के साथ ऐसा ही व्यवहार करे।

७ यदि किसी से कोई कष्ट पहुँचे, तो उसका बदला लेने के इच्छुक न हों, वरन् ईश्वर की तरफ से समझें और उसको धन्यवाद दें।

८ भोजन करने के समय जो कुछ मिल जावे, प्रसन्नता से पावें और ईश्वर की याद में भोजन करें, शुद्ध और पवित्र कमाई का ध्यान रहे।

९ अपना रहन-सहन और व्यवहार इतना सुन्दर बना ले कि जिसको देखने मात्र से ही लोगों को पवित्र आत्मा होने का भास हो, और लोग उससे प्रेम करने लगें।

१० यदि कोई अपराध भूल से हो जावे तो सोते समय ईश्वर को अपने सन्मुख समझ कर उससे दीनता की अवस्था में क्षमा माँगें और पश्चात्ताप करें, और प्रार्थना व प्रयत्न भी करें कि भविष्य में कोई अपराध न होने पावे।

PRSIDENTAL ADDRESS

Inaugoration of Shri Ram Chandra Mission Branch

Gulberga

Dear ones,

It offers me the greatest pleasure to present to you not only my simple views through words but also my very heart to help you to erect the temple of spirituality. The foundation has already been laid in the form of the Mission's branch here. Shri Raghvendra Rao, one of our most capable brethren is in-charge of it and he works as a preceptor. Now it rests upon you to provide for the necessary material required for the erection of the temple. The material does not comprise of mere theoritical knowledge of certain truths and dogmas, but of practical personal experiences only. Acceptance of things by pursuations counts no way. The merits of a thing can be rightly judged only by direct experience. Hence it is only a life of practicality that is required for the solution of the problem of life.

If you really aspire, in good faith, for the attainment of the absolute, all that you are to do is to turn your attention that way with full sincerity of heart, linking yourself closely with One-ultimate Reality. The Divine current will readily begin to run through every fibre of your being, kindling the feeling of true love and devotion in the heart.

God is simple and extremely subtle. In order to realise this Subtlest Being, we must take up means which are equally fine and subtle. The difficulty arises only when intricate methods are applied for the solution of this very simple problem. In other words they apply huge cranes for picking up a small sewing needle.

We have set up a tiny creation of our own, in the form of our individual material existence, having layers after layers of grossness and opacity. What is now to be done is to shatter off those layers of opacity one by one and assume the absolute state as we had at the time of creation. This is all the gist of the philosophy of our system 'Sahaj Marga'. We are, so to say, to

dissolve this tiny creation of our making or to unfold ourselves.

The easiest and the surest means to achieve this end is to surrender yourself to the great Master in true sense and become a 'Living Dead' yourself. This feeling of surrender if cultivated by forced and mechanical means seldom proves to be geniune. It must develop automatically within you without the least strain or pressure upon the mind. Even if the knowledge of the fact is retained then it is not the true form of surrender. What remains to be done, when you have surrendered yourself in true sense. I believe nothing. In this state you will be in close touch with Reality all the time and the current of divine Effulgence Will continue its flow to you without a break.

This is in short all that I hereby wish to bring home to your mind in order to enable you to solve your problem of life in the easiest and the most efficient way in the shortest possible time. I pray for the success of you all in this respect. Amen.

Ram Chandra Precident

THOUGHTS ON SPIRITUALITY

By, Bangovinda Parampanthi

It has been often claimed now-a-days that spirituality has lost its hold in this era of ours. With the progress of science, many deeprooted convictions of mankind about life and the world, it is said, have suffered a set back. Man now tries to explain everything in the light of science, whereas man of previous centuries used to follow everything blindly. It cannot indeed be gainsaid that science has influenced mankind considerably but to say spirituality has lost its hold is indeed far from truth,

The main question that first engages our mind is about the meaning of the term 'spirituality' or what does the word actually signify. Definitions may differ and we can interpret it in many ways. But simply we believe, spiritualty is a thing which demands from us evaluation of the values of life underlying everyman. This search for values may be called spirituality. What is life for, what is the purpose of our being in this earth is a question that disturbed human mind from the very beginning of creation. A close study of human history and its development will reveal how man sometime felt utter helplessness and tried to perfect the system in which he lived and thus reached the present stage what we ourselves see and feel to-day. With the material progress the same perplexing question regarding life made him more uncomfortable. So we see our mental set-up or longing remains to be the same from the beginning.

Spirituality then is essentially search for the higher life the eternal 'Know-how' of values of life.The all round material progress of the present era has satisfied almost every human need and a smooth life is guaranted thereby. And man is so much engaged in worldly affairs that he finds little time to think that there is another aspect of life which is more stable and happier than what he pursues. Some rank materialist may frown at us and question, when all comforts of life are available what is the use of decrying it ? Notwithstanding man's material progress what makes him so uncomfortable and insatiated is a big question which can be flung at them. As has been seen before this discontent of man would remain a problem unless he realizes and discovers his own self. Bhatrihari says :—

'Though enbodied beings obtain that prosperity from which all desires are milked what then ? What if their feet be placed on the heads of their enemies or what if their wealth brings friends or if their bodies endure till the end of the creative cycle.'

This has beautifully brought out the inner sentiments of man. Void that is created out of insatiateness cannot be filled up unless he turns towards spirituality. If all the wealth be placed in the hand of man, he would remain as unsatisfied as he is to-day; so spirituality comes in to fill that void. Spirituality gives us the key to unlock the door of happiness that leads to eternal life. To walk on the road of spirituality is not hard as is generally supposed, it is as smooth and easy as you and I want it to be. Amidst our day-to-day work and in the midst of humdrum of world we can develope a spiritul outlook. You need not be afraid of pursuing spiritual life. You do not require to renounce your alloted worldly function because spirituality wants only a well cultivated balanced life that would make life worthliving.

Bhagavadgita has shown us two kinds of lives one Daibi another Asuri. The former one means spiritual life. There we find enumeration of qualities one desiring spiritual life is expected to cultivate. It may however be mentioned here all Hindu scriptures agree on this point. The qualities are :— Fearlessness, cleanness of life, steadfastness in the yoga of wisdom, alms giving, self-restraint and sacrifice. Study of scriptures, austerity and straight forwardness,harmlessness, truth, absence of crookedness, compassion to living being uncovetetiousness, mildness, modesty, absence of fickleness,vigour,forgiveness, fortitude, purity, absence of envy and pride' (xvi, 1-3). It may sound utopian to many to cultivate all the above mentioned virtues but we can apply some of them in our daily life. Steadfastness in yoga of wisdom (Jnana-yoga) and self-restraint are interdependent. Steadfastness of wisdom will come naturally if we prepare ourselves to receive it. These qualities bring in the sense of discrimination which goes a long way to resolve many of the maladies that bring the world to conflict. The mutual understanding which is the corner stone of the grand edifice of peace is only possible when steadfastness is achieved. Thus mind is the main factor upon which depends the success of spiritual life. Mind as we know is very fickle. To concentrate or to bring one's mind under control is a difficult task and one has to undergo such difficulties as one has to face difficulties to control a unbriddle horse. To purify our mind we require the study of scriptures and the company of Guru who lights the dark and dingy alley to reach the highest abode of realization. Scriptural study should be taken up not for intellectual satisfaction but for enlightment and guidance. Too much study breeds a sense of egotism which again is a bar to spiritual progress. That is why the Upanishad warns us :—

बहून् शब्दान् नानुमासीत वाचा विप्लायनं हि तत् ।"

'Don't read too much as it contamiates the self with egoism. Study is then to be taken as a means of knowing Him and for

guidance. But it is not an essential means, it only shows the way. A steady mind can remain steadfast even in the face of danger and difficulties. Puja, meditation, Abhyasa (constant practice of one's own willpower) are meant for this purification of mind. Hence Gita says :—'Sacrifice, gift (Dana) and also austerity are the purifiers of the intelligent.' By sacrifice we learn not to possess anything—it frees one from the sense of ego centred posssesiveness, by Dana we learn humbleness and austerity makes us aware that worldly wealth and pelf are but evanescent and passing show. Man is suceptible to the egoitism of possession, hence one should try to eliminate then by the practice of sacrifice. From sacrifice comes renunciation. At the suggestion of renunciation some may be frightened because it is very hard to renounce the possession and the way of life ingrained in him. Renunciation does not necesarily mean the absolute renunciation of the world. A renounced man of high order has to live in this world. To those men who cannot dissociate themselues from the worldly life, renunciation should mean active detachment from all fruit of action. Too much attachment is sure to bring misery. Gita enjoins—'He that performeth such action as his duty independently of that fruit of action, he is an ascetic, he is a yogi not he that is without fire and without rites' (vi. 1). The life of Sannyasa is as difficult as anything else,to robe oneself with ochre cloth does not make one sannysi, he has to purify himself throughly. Mind should be so prepared that he must not be moved by any worldly attraction. It is wrong to think that by taking Sannyasa one's final goal is assured. Because his responsibility increases hundredfold and he has to guard himself at every moment. So first of all renunciation means detachment without which service is not possible.

Faith in God—the Supreme being to whom all our actions nay everything directed is another aspect of spiritual life In this age faith in one supreme Divinity is somewhat dwindled. We are now in the habit of taking everything in the light of reason. To found one's belief on rationalistic platform is what every religion preaches. Hindu saints and seers are always emphatic on this point-you have every right to argue out one's teaching as long as you do not understand. Even Srikrishna after inculcating so many things in Gita tells Arjuna. 'Having reflected fully on what I have said then act thou as thou listest' (xviii, 63). Because it has been said by Srikrisna he must accept not without reflecting on it, how far he can make it precticable in his life is what is implied in that sayings. It is clear then that we are taught not to follow anything without reason and reflection, be it come from any authority.

We may or may not believe, but that there is one supreme power which controls our destiny can hardly be disputed. We are not presently concerned to take into consi-

deration all the arguments for and against the Supreme Being,but this much we can say humanity has never been able to shake off this idea of God. Why ?—nobody can answer it till now. Thousands of arguments have been heaped upon it—even many scholars, saints and seers spent their whole life disputing and arguing on it yet could not solve this mystery of God ; they stumbled at it—perhaps they realised, it is foolish philosophy to solve the mystery of God.Science, inspite of its astounding achievements by opening before us ever increasing new worlds of thought, takes a long grasp before it can pronounce anything on the existence of God. Faith is a thing which we can hardly define in human language—it is a thing to be realised. Faith makes all our effort sweet and smooth. A common saying is often heard that faith is blind, but what is not blind ? When you accept a theory propounded by some one, you take it blindly, you do not go to examine it or to probe intc the matter nor do you experiment on it ; your experiment or examination may prove it to be otherwise. But faith in God is sponteneous, it comes to you in natural process—nobody dictates you to believe in God or tells you that there is God. This goes to show setting aside other's contentions faith is a living thing that sustains humanity and the world. Kena Upanishad thus tells us whom words cannot express yet from whom words came know thou He is Brahma or Supreme Being As He is near and dear to us and lives with us that we are not conscious of His constant presence. It is a common experience with all of us that we do not feel much for near about things. Narada told Basudeva who disregarding Krishna was about to worship other Gods(that as He is so near to him and lives with him as his own son yet he proposes to worship other Gods) whom he does not know. Such is the case with all of us. He is within us it is up to us to feel His presence through meditation and one pointed devotion.

To sum up then, spirituality stresses on two things,firstly to purify the mind so as to prepare oneself for higher life, secondly a living faith in God. There are many more factors which help one to develop spiritual outlook but in short these two are prerequisite of all. Every body wants mental peace and to achieve it we must sincerely try for it. By treading the path of spirituality we can only solve many problems that beset humanity and achieve peace of mind and soul.

What Is It : That We Are After, After All

Man is marked out from the rest of the animal world by virtue of the spirit of enquiry, inherent in his very structure. No other animal except man has the capacity to stand in the morning staring awe-stricken at the quivering colours on the ever-virgin face of blushing goddess of Dawn, and exclaim :—

ঊষে, কে তোমারে নির্মিল ?
বালার্ক সিন্দুর ফোঁটা, কে তোমার ভালে দিল ?

(O The maiden of Dawn, who has created thee ? Who has put this vermilion-mark of the freshly rising sun on thy forehead ?) It is man alone who feels dissatisfied with mere living and dying ; and exhibits an eternal anxiety to understand the meaning of life and death. He never stops with the knowledge of Reality, as It appears to us ; he impatiently tries to tear off the veil of appearance and look full into the face of Reality, as It is in Itself.

This insatiable thirst for the knowledge of the ultimate aspect of Reality is ingrained in the very nature of Indians. The sages of the Upnishads had stood in the morning gazing at the rising sun and prayed :—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।

(The face of Truth has been covered by this golden bowl. Remove it, O source of all light,that the Truth, which sustains it all, may be visible.) The great devout poets of the middle ages had expressed the same puzzling surprize in their devotional hymns :—

केशव, कहि न जाइ, का कहिये ।
देखत तव रचना विचित्र, हरि,समुझि मनहि मन रहिये ।
शून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे,
धोये मिटै, न मरै भीति, दुख पाइअ येहि तन हेरे ।

(O Lord, what shall I say, it is impossible to tell. Looking at thy strange creation, O Master, one may brood within himself and stop there. On the canvass of vacuum, a formless painter, without the help of any colour, has done a painting, which is never washed off, nor does the canvass decay, while a gaze at it brings pain.....")

And even the twentieth century sceptic, though greatly influenced by the progress of modern science, has not been able to restrain himself from crying out in great intellectual agony :—

प्रिय, नील गगन के पार कौन ?
किस ज्योतिपुंजकी प्रखर रश्मि, उतरी अनंतका वक्ष चीर
किस अतल उदधिकी आर्द्र श्वास दौड़ी उससे मिलने अधीर
किस कलाकार की तूली से खिंच गया चित्र यह सतरंगी
किस अंतरिक्षमें इसे छिपा, झर पड़ा किसीका नयन-नीर
क्यों, नील-दृष्टिको सीमा-के उस पार अपरिमित एक मौन
सखि, नील गगन के पार कौन ?

(My darling, who is there beyond the blue sky ? Which is that great mass of light, whose brilliant ray came down, rendering the bosom of the Infinite ? Which is that bottomless ocean whose moist breath ran restlessly to meet it ? Who is that artist, whose brush has painted this seven-coloured landscape ? Which is that void, into which it is concealed ; and somebody's tears begin tricking down ?

Why on the other side of the Blue—the extreme limit of vision—there reigns a measureless silence ?

My beloved friend, who is there beyond the blue sky ?)

No doubt there are stones and trees, the worms and the beasts who do not feel this pang for a dive into the mystery of the Universe and life and their own being. But man—the frail puny creation of Nature—does have this eternal thirst for the knowledge of the Ultimate in his very first genes. Again there are many who do not rise up to the call of their nature, and sleep the craving over. But there are true lovers also to whom a glimpse of the face of that Beloved Eternal should weigh heavier than the whole kingdom of Kapilavastu. There can be little doubt that it is in these peerless persons that human dignity has found its full bloom.

Now the sanctity of the craving for the knowledge of the Eternal Absolute having been established, the natural question arises, 'Can we ever get this craving satisfied ?' The answer to this question has been given by that giant of Western philosophy—I mean Kant—in a categorical negative. And the answer to this question by a score of unassuming Indian sages has been a simple 'Yes'. If at this stage the question as to the method of acquiring this knowledge be raised, we can easily find a bridge over the gulf separating the stands taken by the eminent philosophers of East and West. Kant asserted that the instruments of acquiring knowledge at our command have their own limitations, and all our knowledge of Reality must be relative to the categories inherent in our instruments for acquiring knowledge. The Indian sages agree with this assertion, and hence

point out the simple method of casting away ones limited instruments of acquiring knowledge in order to gain the absolute knowledge of the Ultimate Reality. The sense perception, the reason, the belief in authority are all unreliable in the sphere of the Eternal Absolute, since they are conditioned by the limitations of the individual's sense organs, intellect and culture respectively.

This naive method of acquiring the knowledge of the Ultimate Absolute is sure to bring an attitude of bewilderment at the least, to the master of western science or philosophy and the layman alike. Ordinarily no sources of knowledge other than perception, reason and authority are recognized. But it is obviously a narrow view of things. When Descartes established the existence of the thinking agent (Self) immediately from the fact of thinking, he was certainly not drawing any conclusion from a premise ; when one wakes up from a sound sleep and speaks of the experience of a peculiar pleasantness during sleep, he is obviously refering to something more than a mere memory image of the Kinaesthetic sensation ; when we assert the indisputable existence of the concept of 'Good' we undoubtedly do not rely on the authority of a moral philosopher. There is a good deal of immediate knowledge which does not impart a mere information to us, but transforms the whole of our character. As one proceeds along the path of casting away the various possessions and instruments with which he has ordinarily been identifying himself, one finds as though he were being born anew, at each step into a novel world. The sensual or rational aspects of reality, hitherto known to him by the help of the limited instruments of knowledge in his possession, begin to appear as only one view of the whole of the Reality, as It is in Itself. We go on getting acquainted with newer aspects of Reality as we march on and on. The experiences are really enchanting. The traveller as a matter of fact loses nothing ; he only goes on becoming more and more free from the oppressing load and encircling shackles of a single aspect of Reality. He gradually rises above the limitations, which had thus far been too much with him. To be clearer, let us take a crude example. The people of a village situated at a distance of, say, fifty miles from a huge mountain do possess a certain knowledge of the mountain. If none of them has ever had the opportunity of going beyond the distance of half a mile form the village, they will certainly be bewildered to say the least, when a casual pilgrim should tell then how the mountain looks when one stands at its

base, or goes around it, or climbs it up. If some one from the village takes courage and finds time to accompany the pilgrim, he will be getting acquainted at each step with a newer view of the mountain ; he will be feeling a change in temperature, pressure of air etc. from that he has thus far been accustomed to. He will be getting rid of the oppressing load and encircling shackles of dogma which had thus-far been too much with him. This analogy is essentially partial. In this example the villager goes to discover the reality of something other than himself, and hence the new knowledge does not bring such a thorough going transformation in his own being. In the case of the search after tbe Ultimate Absolute, one goes on discovering the whole of the Reality which includes himself, and hence this knowledge has the characteristic of bringing a gradual transformation of the personality of the seeker after Truth. Really speaking, in the search after the Ultimate,one does not have to go anywhere ; he has simply to experience changes in his own attitudes. Indeed the difference in the personalities of Buddha and Nero, of Christ and his crucifiers is nothing but a difference in the system of attitudes present in them. To tell the truth :—

ब नफी ए-ख़ुद जिगर ख़स्तम, ब अस्बातश कमर बस्तम
चूँ अज़ मानी ख़बर गश्तम, न ऊ आमद न मन रफ्तम।

(I roasted my heart by negating myself. I proceeded firmly by affirming Him (Ultimate Absolute). When the real meaning dawned on me I found that neither I had gone anywhere, nor he had come).

The scientifically minded reader may be inclined to call it all a sort of mystification, and demand a more definite description of the method of knowing the Ultimate Reality. To that end, it may be pointed out that the method consists in a sort of a psychological experiment involving an ability of acute introspection. The start is made with meditation, which means a continual concentration of attention on a certain thought provided by the guide Aided by the attention and will of the capable master, the trainee very soon begins developing hitherto unknown mental attitudes, such as detachment from the fruits of his actions, universal brotherhood, impressionlessness etc., accompanied very often by physiological concomitants like lack of fatigue and nervous tension even after too much of physical exertion, throbbing of various muscular and visceral organs, temporary or sometimes permanent cessation of some automatic physiological functions without producing any derogatory effect on the organism and so on. These experiences differ widely from individual to individual, and every trainee has his own difficulties and problems. Hence a few examples of the experiences will suffice. Again, in this great science of the Ultimate Reality, such experiences and miraculous attainments are not regarded to be important in themselves ; they are merely passing phases in the course of the Infinite. The scientists interested in the determination of the causal laws of the various phenomena may, however, take it upon themselves to

discover the laws regulating these strange phenomena. As to the reality of these phenomena, there can be no doubt at all. The testimony of men like Patanjali, Buddha and Shankar can not be lightly brushed off. And above anything else, any intelligent and sincere sceptic is readily welcome to subject himself to the discipline and convince himself of the reality of the phenomena. As a mater of fact, it is the time now for the greatest of the genius of our age of nuclear energy, to come forward and unravel the mysteries of this hitherto unexplored field of knowledge. The magical advancements of the physical sciences have placed weapons of immense power in the hands of man, who knows very little of the powers of the mind whose working has made the advancement of the physical sciences possible; still less does man know about his own true being, the spirit of man, of which the mind itself is a mere instrument. Consequently the demon of destruction stares full into the face of man today. He must rise upto the occasion or perish. The importance of turning our attention to the advancement of the science of the spirit of man can be brought out amply well by reproducing a few sentences from the preface of R. B. Cattell's book 'Your mind and mine' :—

"Of what avail is to drive aeroplanes and motor cars at hundreds of miles per hour, to shoot shells unheard of distances, to manufacture endless cheap synthetic food, or even to conquer disease, if nations can not cure themselves of squabbling like children, of being a prey to suggestion, passion and prejudice in daily life, and of being chronically unable to organize a spacious, cultured and healthy progressive social life ?...What shall it profit a man, if he shall gain the whole world, and lose his own soul ?.....We have surpassed all previous civilizations in the extent to which we have mastered and utilized the secrets of nature, It remains to be seen whether we shall penetrate this last secret....., or whether satified with the external paraphernalia of progress, we shall follow the course of previous civilizations to the dust .....The whirling atoms give up their secrets; the vaster distances of the starry sky are mapped and tabulated, but the human mind remains largely inscrutable and uncontrollable. The physicist can tell us how the rainbow weaves its patterns of light; the chemist can describe the processes in the ripening corn; but the processes of the mind as it contemplates these things remein almost as incomprehensible to the scientist as they do to the poet singing :

"Tears, idle tears. I know not what they mean.
Tears from the depth of some divine despair
Rise in the heart and gather to the eyes
In looking on the happy autumn fields."

The method recommended by the Indian sages and briefly narrated above not only gives us the knowledge of the Absolute Eternal, but also offers a solution to the problems of moral and social adjustment.Knowing and becoming go hand in haud—rathar the two are inseparable and inextricable from each other. The knowledge of the Absolute unites freedom and responsibility like the concave and convex views of the same curve. As one proceeds on the journey, the experiences are so bewitching that no attempt at picturesque descriptions can impart a feel of them to the reader. In the words of an Urdu poet —

लुत्फ़े-मै तुझसे क्या कहूँ ज़ाहिद !
हाय कम्बख्त, तू ने पी ही नहीं।

(How shall I tell thee, O pious abstainer, the savour of wine. Alas, unfortunate fellow ! Thou hast never tasted it.)

In the end the scientists may still be reluctant to pay attention to this most profusely productive field of research due to the mystical and occult character of the phenomena. That will be, an unbecoming escapism at the best, and a cruel shameless butchery of the scientific spirit of inquiry at the worst. A true scientist can never forget that—

'A thousand things are hidden still
And not a hundred known.'

Sd/ Suraj Prasad Srivastava
Head of philosophy Department
Y. D. College, Lakhimpur Kheri

श्री रामचन्द्र मिशन के सदाचार-सम्बन्धी नियम

१. अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिए, जैसे जल-क्षी (मुर्गाबी)। जब वह पानी के अन्दर से निकलती , तो उसके पंख सूखे ही रहते है।

२. सत्संगी भाइयों से प्रेम। दैनिक बोल-चाल में धुर तथा मीठी वाणी (शीरीं-दहनी) होनी चाहिये।

३. मित्र और शत्रु को एक सा जानो अर्थात दोनों की भलाई चाहो।

४. पतिव्रता स्त्री की भाँति केवल 'मालिक' के स्मरण को हृदय में स्थान दें और दूसरे का विचार आने से रोकें।

५. व्यर्थ बातें न की जावें। व्यर्थ वार्त्तालाप का परित्याग करें। उपन्यासों का पढ़ना बन्द कर दें। हृदय को अन्य के प्रेम में सराबोर न होने दें। मित्रता की वृथा धुन को छोड़ दें। केवल ईश्वर को अपना मित्र समझें। धार्मिक पुस्तकें, जिनमें ईश्वरीय प्रेम झलकता हो, पढ़ सकते हैं। गूढ़ फिलासफी उस समय तक पढ़ने की आवश्यकता नहीं, जब तक आज्ञा न प्राप्त कर लें। यदि योग्यता हो तो सीधे ईश्वर (Direct), वरना मुझसे।

६. आपस का व्यवहार भाई-चारे का रखें। एक दूसरे की तकलीफ में सहायक हों।

७. श्रेष्ठ सदाचार इस मार्ग का जीवन है। वाह्य क्रियायें, जैसे संध्योपासना करना तथा घर के कामों को उचित रूप से करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

८. बच्चों के पालन-पोषण में संलग्न रहें, इस तरह पर कि दिल में दाग न आने पावे। अर्थात् उनका प्रेम न हो कि कष्ट-दायक हो।

९. स्त्री को अपना सहायक बना लें और समझ लें कि गृहस्थी की गाड़ी का एक पहिया हम हैं और एक वह।

१०. अपने महल्ले वालों से इस तरह का व्यवहार रखें कि वे अपने ही मालूम हों और वे भी उसको अपना ही समझने लगें। यही सदाचार सबके साथ वर्तना चाहिये।

११. सम्बन्धियों (रिश्तेदारों) से इस तरह का सम्बन्ध रक्खे कि उसकी रस्सी कटी हुई प्रतीत हो। हर दशा में उनके दुःख-दर्द में साथ दें और यह बात सबके साथ होना चाहिए। रुपये-पैसे के लेन-देन से बचे रहें। यदि उनकी आवश्यकता पड़ जाय तो उतने रुपयों से उनकी सहायता करें कि वापस न होने पर पछतावा न हो और सम्बन्ध में कमी न पड़े।

१२ अपने अफसरों से ऐसा व्यवहार रखें कि उसको यह न प्रतीत हो कि यह मनुष्य अपने कर्तव्य के नियम से गिरा हुआ है, और सेवा के बदले में जो कुछ मिल जावे, उसको ईश्वर की ओर से समझें।

१३ अपनी राय ऐसे स्थान पर न दें कि जहाँ यह समझ में आवे कि उसका कोई मूल्य न होगा। रोगी को औषधि (वैद्य या डाक्टरों के अतिरिक्त) बताना, ऐसी हालत में, जब कि उसका Serious case हो, नहीं चाहिए, जब तक विश्वास न हो जाय कि यह हाथ से जा रहा है।

१४ किसी को भी अपने भेद की जानकारी न होने दे और न उसको यही प्रतीत हो कि यह भेद मुझसे छिपाया जा रहा है। साधारण जीवन उदासीनता (बेलौसी) के साथ व्यतीत करें। जहाँ तक हो सके, चिन्ता को निकट न आने दें और यदि आ भी जाय तो उसको ईश्वर की ओर से समझें और उसको धन्यवाद दे। यह अभ्यास और भी घरेलू बातों में किया जा सकता है।

१५ खाने-पीने के बारे में एक-रस बन जावे। शुद्ध कमाई का ध्यान रखें।

१६ अपने गुरु को सब कुछ दे बैठे (इससे मेरा मतलब रुपये-पैसे इत्यादि से नहीं है) और उसको अपना समझ ले; और व्यवहार के विषय में जो मानवता के नियम कहे, उसका पालन करे।

१७. सत्संगी भाइयों के साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिए, जो प्रफुल्लता का हो और उनको उन्नति दे।

—श्री रामचन्द्रजी महाराज, प्रेसिडेन्ट (प्रधानाचार्य)
श्री रामचन्द्र मिशन
शाहजहाँपुर (यू० पी०)

प्रकाशक—श्री रामचन्द्र मिशन ब्रांच—तिनसुकिया (आसाम)
मुद्रक—जगत्तारिणी प्रिंटिंग वर्क्स, ३४७।१, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता-६